विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ७ जुलाई २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)
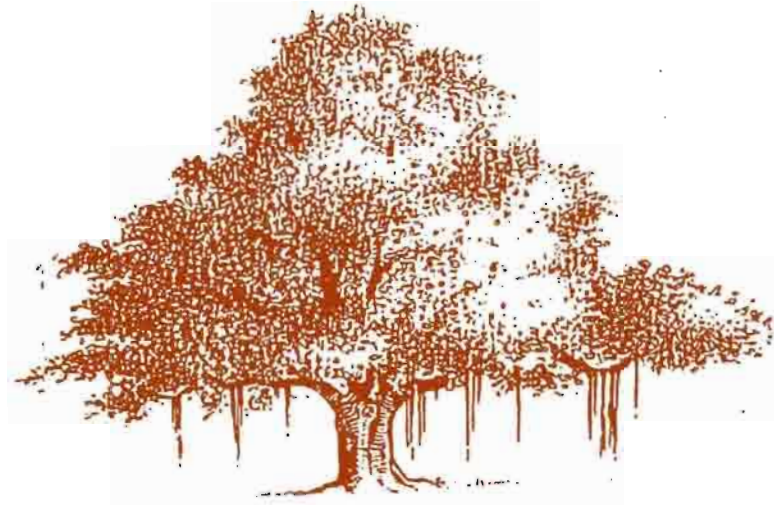
जैसे वृक्ष धरती से लवण और जल,
वातावरण से वायु, और सूर्य से ऊर्जा
ग्रहण करता हुआ अपने शरीर को स्वस्थ
रखता है, वैसे ही हे प्रभो! विश्व का
प्रत्येक प्राणी प्रकृति से आवश्यक तत्त्वों
का संचय करता हुआ अपने-आपको
स्वस्थ रखे!

- श्रुति -

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन सदस्यता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(पन्द्रहवीं तालिका)

५६१. श्री अनिल धर दूबे, सुन्दर नगर, रायपुर (म.प्र.)
५६२. श्रीमती ज्योति जया महाले, अंकोला, उ. कन्नड़ (कर्ना.)
५६३. श्री राजाराम पाण्डे, स्टेशन रोड, बिकानेर (राजस्थान)
५६४. डॉ. श्रीमती रेखा अग्रवाल, मेरठ (उ.प्र.)
५६५. रामकृष्ण मिशन आश्रम, मोराबादी, राँची (बिहार)
५६६. श्री डॉ. गोविन्द पाठक, टण्डन बि., दमोह (म.प्र.)
५६७. संचालक, संत श्री आशाराम जी आश्रम, भोपाल (म.प्र.)
५६८. सन्त श्री गजानन महाराज संस्थान, शेगाँव (महा.)
५६९. श्री सी. पी. सिन्हा, शंकर नगर, रायपुर (म.प्र.)
५७०. स्वामी सत्येशानन्द जी, रामकृष्ण मिशन, राँची (बिहार)
५७१. सचिव, रामकृष्ण मिशन, लाइमुखरा, शिलाँग (मेघालय)
५७२. श्रीमती प्रीतांजलि गुप्ता, नगवा, वाराणसी (उ.प्र.)
५७३. स्वामी जगदात्मानन्द जी, रामकृष्ण मिशन, शिलाँग
५७४. श्री एच. पी. कंकूवाला, कच्छियावाड़, भावनगर (गुजरात)
५७५. श्री पियूष कान्त दवे, सियागंज, इन्दौर (म.प्र.)
५७६. श्रीमती नीलम दिवाकीर्ति, शंकर नगर, रायपुर (म.प्र.)
५७७. श्रीमती शान्ता अत्रे, गोकुलपेठ, नागपुर (महाराष्ट्र)
५७८. श्री पी. जी. गोस्वामी, रिंग रोड, रायपुर (म.प्र.)
५७९. श्री अमृत लाल माटे, उषानगर, इन्दौर (म.प्र.)
५८०. श्री राजेन्द्र कुमार चन्द्रवंशी, खरहट्टा, कवर्धा (म.प्र.)
५८१. ब्र. राजेन्द्र महाराज, रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ (प.बं.)
५८२. श्री विवेक कुमार सिंह, टालीगंज, कलकत्ता (प.बं.)
५८३. स्वामी चिदानन्द पुरी, चौक, कनखल (उ.प्र.)
५८४. श्री एफ. एल. शर्मा, विवेकानन्द नगर, रायपुर (म.प्र.)
५८५. श्री के. कमाविसदार, तिलक नगर, बिलासपुर (म.प्र.)
५८६. डॉ. असित कुमार बॅनर्जी, सुल्तानाबाद, भोपाल (म.प्र.)
५८७. श्री शिवशंकर गुप्ता, नारायण विहार, नई दिल्ली
५८८. श्री रामावतार अग्रवाल, कोटमा, शहडोल (म.प्र.)
५८९. श्री देवेन्द्र कुमार साहू, राजनांदगांव (म.प्र.)
५९०. मेसर्स मुहना एण्ड कम्पनी, शेगांव, बुलढाणा (महा.)
५९१. श्री देव नारायण शर्मा, ब्राह्मणपारा, रायपुर (म.प्र.)
५९२. ब्र. विश्वनाथ चैतन्य, नरोत्तम नगर, तिरप (अरुणाच.)
५९३. ग्रंथालय, ग्रामभारती विद्यापीठ, कोठ्यारी, सीकर (राज.)
५९४. श्री प्रफुल्ल चन्द्र अग्रवाल, पवई, मुम्बई (महा.)
५९५. श्री अशोक कुमार, रघुवीर नगर, नई दिल्ली
५९६. श्री अनुराग पुराणिक, विजय नगर, इन्दौर (म.प्र.)
५९७. ब्रह्मचारी लोकेश जी, बिडाडी, बैंगलोर (कर्णाटक)
५९८. श्रीमती मधु लोढ़ा, बापू नगर, जयपुर (राजस्थान)
५९९. सन्त गजानन महाराज इ. कॉ., शेगाँव, बुलढाणा (महा.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नै - ६०० ००४

फोन - ४९४१२३१, ४९४१९५९, फॅक्स : ४९३४५८९

Website · www.sriramakrishnamath.org

email . srkmath@vsnl.com

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिये विवेकानन्दार इल्लम एक ऐतिहासिक भवन तथा पावन तीर्थ है। उन्होंने इस भवन में पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

आपको ज्ञात होका कि स्वामी विवेकानन्द एक शताब्दी पूर्व - १८९७ ई की फरवरी में चैन्नै के इस भवन में पधारे थे, जो उन दिनों आइस हाउस या कैसिल कर्नन के नाम से प्रसिद्ध था। उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोद्दीपक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं।

यह भवन दक्षिणी भारत के सर्वप्रथम रामकृष्ण मठ का भी आश्रय रहा है। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान् सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में १८९७ ई. से १९०६ ई. तक इसी भवन में रामकृष्ण मठ चलता रहा।

इस भवन का जीर्णोद्धार करके इसमें 'स्वामी विवेकानन्द तथा भारतीय संस्कृति' पर एक स्थायी प्रदर्शनी बनाने हेतु तमिलनाडु सरकार ने यह भवन हमें लीज पर दे दिया है। भवन के जीर्णोद्धार का कार्य पूरा हो चुका है और तमिलनाडु के माननीय मुख्यमत्री के हाथों २० दिसम्बर १९९९ को इस प्रदर्शनी का प्रथम चरण का उद्घाटन किया गया। इस प्रथम चरण की परीयोजना पर रु. ६५ लाख का खर्च आया है। द्वितीय तथा तृतीय चरण के कार्य शीघ्र ही आरम्भ होनेवाले हैं, जिन पर रु. ८५ लाख का व्यय होने का अनुमान है। इस प्रदर्शनी के रख-रखाव के लिए भी रु. ५० लाख का एक स्थायी कोष बनाने की आवश्यकता होगी।

अब तक हम दान के द्वारा केवल रु. १५ लाख ही एकत्र कर सके हैं। आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के आशीर्वाद के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। कृपया क्रास किये हुए चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका,

स्वामी गौतमानन्द

अध्यक्ष

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ३८ **जुलाई २०००** **अंक ७**

नीति-शतकम्

साहित्य-संगीत-कला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम् ।।१२।।

अन्वय – (यः मनुष्यः) साहित्य-संगीत-कला-विहीनः, (सः) पुच्छ-विषाण-हीनः साक्षात् पशुः, (यत्) तृणं न खादन् अपि जीवमानः, तत् पशूनां परमं भागधेयम् ॥

भावार्थ – जो मनुष्य साहित्य, संगीत तथा कला से रहित है, वह मानो पूँछ तथा सिंग से रहित पशु है । पशुओं का यह परम सौभाग्य है कि ऐसे मनुष्य बिना घास खाये भी जीवित रहते हैं (अन्यथा उनके लिए उदर-पोषण कठिन हो जाता) ।

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।१३।।

अन्वय – येषां विद्या न, तपः न, ज्ञानं न, शीलं न, गुणः न, धर्मः न (वर्तते), ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मृगाः, मनुष्यरूपेण चरन्ति ॥

भावार्थ – जिन लोगों में न विद्या, न तप, न दान, न ज्ञान, न शील, न गुण और न धर्म है; वे पृथ्वी के भारस्वरूप होकर मनुष्य का रूप धारण किये हुए मानो पशु ही विचरण करते हैं ।

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह ।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ।।१४।।

अन्वय – वनचरैः सह पर्वत-दुर्गेषु भ्रान्तं वरम् (अस्ति), सुरेन्द्रभवनेषु अपि मूर्खजनसम्पर्कः न (वरम् अस्ति) ॥

भावार्थ – बल्कि वनवासियों के साथ दुर्गम पर्वतों में निवास करना अच्छा है, परन्तु मूर्खों के साथ स्वर्ग में निवास भी वांछनीय नहीं है ।

– भर्तृहरि

वन्दना-गीति

– १ –

(तोड़ी – कहरवा)

व्यर्थ प्रपंचों में दुनिया के, जीवन मेरा बीता जाए ।
कब से बैठा हूँ करुणामय, आशा-पथ पर दृष्टि लगाए ।।

सदा-सर्वदा रखता हूँ मैं, हृदि कुटिया के द्वारा उघाड़े ।
एक बार आओ अन्तर में, तो मेरा मन-प्राण जुड़ाए ।।

तुम त्रिभुवन के स्वामी हो प्रभु, मैं अति दीन-अकिंचन प्राणी ।
कैसे कहूँ नाथ आ जाओ, यह कुटीर भाए ना भाए ।।

– २ –

(रागेश्री – कहरवा)

मन, लौट चलो अपने घर ।
जग विदेश में, पथिक वेश में, भटक रहे हो क्यो-कर ।।

रूप रसादि पंच विषयों को, अनिल अनल जल आदि भूत जो;
सत्य मान क्यों भ्रमित हुए हो, निज प्रियतम को खोकर ।। मन. ।।

निज प्रज्ञा का दीप जलाना, श्रेय मार्ग पर बढ़ते जाना;
पथ-सम्बल के हेतु संग में, भक्ति-सम्पदा लेकर ।। मन.।।

लोभ-मोह-मद आदि लुटेरे, पथ में फिरते साँझ सबेरे;
सदा चलेंगे साथ तुम्हारे, शम-दम प्रहरी सुखकर ।। मन.।।

थक जाओ जो कहीं पंथ में, विश्रामालय साधु-संग में;
क्लान्ति मिटाना दिशा पूछना, कर सुख-शयन वहीं पर ।। मन.।।

अगर कहीं भय का कारण हो, आकुल चित से उन्हें पुकारो;
खूब दबदबा फैला उनका, यम भी रहते डरकर ।। मन.।।

स्वमी विवेकानन्द के प्रिय दो बँगला भजनों का हिन्दी रूपान्तरण

– विदेह

जनसाधारण की उन्नति

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओं से सम्बन्धित विचारों का एक संकलन बनाया था । यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने मे काफी उपयोगी है तथा इसीलिए अतीव लोकप्रिय भी हुआ । 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

वर्तमान आवश्यकता और मेरी योजना

आज आवश्यकता है – विदेशी नियंत्रण हटाकर हमारे विविध शास्त्रों, विद्याओं का अध्ययन हो और साथ साथ अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य विज्ञान भी सिखा जाय । हमें उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये तकनीकी शिक्षा भी प्राप्त करनी होगी, ताकि देश के युवक नौकरी ढूँढ़ने के बजाय अपनी जीविका के लिये समुचित धनोपार्जन भी कर सकें और दुर्दिन के लिये कुछ बचा भी सकें ।

बच्चों के लिए उपयोगी एक पुस्तक तक तो इस देश में नहीं है । हमें कुछ ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन करना चाहिए, जिनमे बहुत ही सरल तथा सीधी भाषा में रामायण, महाभारत तथा उपनिषदों की कथाओं का संग्रह हो और फिर ये पुस्तकें बालकों को पढ़ने के लिए दी जायँ ।

जीवन में मेरी एकमात्र महत्वाकांक्षा यही है कि मैं एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन कर दूँ, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारो तक पहुँचा दे और फिर पुरुष तथा महिलाएँ स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय कर लें । उन्हें बताया जाय कि हमारे पूर्वजो तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है! विशेषकर वे देखें कि अन्य लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय लेने दो । हमें केवल रासायनिक द्रव्य एकत्र कर देने हैं और प्रकृति के नियमानुसार वे स्वयं ही अपना विशेष आकार धारण कर लेंगे।

सबसे पहले हमें अपने देश की आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा को दुरुस्त करना होगा । तुम्हें इस विषय पर सोच-विचार करना होगा, इस पर तर्क-वितर्क तथा आपस में सलाह-मशवरा करना होगा, दिमाग लगाना होगा और अन्त में उसे कार्यरूप में परिणत करना होगा । जब तक तुम यह काम पूरा नही करते, तब तक तुम्हारे देश का उद्धार असम्भव है । अपने देश की समग्र आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षा के प्रचार का भार हमें अपने हाथों में लेकर यथासम्भव राष्ट्रीय रीति से राष्ट्रीय सिद्धान्तों के आधार पर उसका विस्तार करना होगा । हाँ, यह ठीक है कि यह एक बहुत बड़ी योजना है । मैं नही कह सकता कि यह कभी पूरी तौर से क्रियान्वित हो सकेगी या नहीं, पर हमें तत्काल इसे शुरू कर देना चाहिए ।

सबसे पहले हमें एक मन्दिर की आवश्यकता है, क्योंकि हिन्दू लोग सभी कार्यों में पहला स्थान धर्म को ही देते हैं । यह मन्दिर साम्प्रदायिक भेद-भावों के परे होगा । ॐ उसका एकमात्र प्रतीक होगा, जो कि हमारे किसी भी धर्म-सम्प्रदाय के लिए महानतम प्रतीक है । इस मन्दिर में वे ही धार्मिक तत्त्व सिखाए जाएँगे, जो सब सम्प्रदायों में समान हैं । साथ ही हर सम्प्रदायवाले को यहाँ अपने मत की शिक्षा देने का अधिकार होगा, परन्तु एक प्रतिबन्ध रहेगा कि वे अन्य सम्प्रदायों से झगड़ा नहीं कर सकेंगे । दूसरी बात यह है कि मन्दिर के साथ ही एक और संस्था हो, जिससे धार्मिक शिक्षक और प्रचारक तैयार किये जायँ और वे सभी घूम-फिरकर धर्म-प्रचार करने को भेजे जायँ । जैसे हम द्वार द्वार जाकर धर्म का प्रचार करते हैं, वैसे ही हमे लौकिक शिक्षा का भी प्रचार करना पड़ेगा । यह काम आसानी से हो सकता है । शिक्षकों तथा धर्म-प्रचारकों के द्वारा हमारे कार्य का विस्तार होता जायेगा और क्रमश: अन्य स्थानों में ऐसे ही मन्दिर स्थापित होंगे और इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में यह कार्य फैल जाएगा । यही मेरी योजना है । तुमको यह बड़ी भारी प्रतीत होगी, परन्तु इसकी बहुत आवश्यकता है ।

५. जनसाधारण की उन्नति

उनकी महत्ता

हमारी जनता सांसारिक विषयों में बहुत अज्ञानी है । हमारी जनता बहुत अच्छी है, क्योंकि यहाँ निर्धन होना अपराध नहीं है । हमारी जनता हिंसक नहीं है । अमेरिका और इंग्लैण्ड में अनेकों बार केवल अपनी वेशभूषा के कारण मैं भीड़ द्वारा घेर लिया गया हूँ । परन्तु भारत में मैंने ऐसी बात कभी नहीं सुनी कि किसी व्यक्ति की वेशभूषा के कारण भीड़ उसके पीछे पड़ गयी हो । अन्य सभी बातों में, हमारी जनता यूरोप की जनता की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य है । ... अनुभव के द्वारा मुझे यह शिक्षा मिली है कि हमारे देश का जन-समुदाय निर्बोध और मन्द नहीं है, वह संसार का समाचार जानने के लिए पृथ्वी के अन्य किसी स्थान के निवासी से कम उत्सुक और व्याकुल भी नहीं हैं ।

वे जो लोग किसान हैं, वे कोरी, जुलाहे जो भारत के नगण्य मनुष्य हैं, विजाति-विजित स्वजाति-निन्दित छोटी छोटी जातियाँ हैं, वे ही लगातार चुपचाप काम करती जा रही हैं और अपने परिश्रम का फल भी नहीं पा रही हैं। ... ये जो किसान, मजदूर, मोची, मेहतर आदि हैं; उनकी कर्मशीलता और आत्मनिष्ठा तुममें से कइयों से कहीं अधिक है। ये लोग चिरकाल से चुपचाप काम करते जा रहे हैं, देश का धन-धान्य उत्पन्न कर रहे हैं, पर अपने मुँह से शिकायत नहीं करते।

माना कि उन्होंने तुम लोगों की तरह पुस्तकें नहीं पढ़ी हैं, तुम्हारी तरह कोट-कमीज पहन कर सभ्य बनना उन्होंने नहीं सीखा, पर इससे क्या? वास्तव में वे ही राष्ट्र की रीढ़ हैं। यदि ये निम्न श्रेणीयों के लोग अपना अपना काम करना बन्द कर दें, तो तुम लोगों को अन्न-वस्त्र मिलना कठिन हो जाय! कलकत्ते में यदि मेहतर लोग एक दिन के लिए काम करना बन्द कर देते हैं, तो 'हाय तोबा' मच जाती है। यदि वे तीन दिन काम बन्द कर दें, तो संक्रामक रोगों से शहर बर्बाद हो जाय! श्रमिकों के काम बन्द करने पर तुम्हें अन्न-वस्त्र नहीं मिल सकता। इन्हें ही तुम लोग नीच समझ रहे हो और अपने को शिक्षित मानकर अभिमान कर रहे हो।

हे भारत के श्रमजीवियो, तुम्हारे नीरव, सदा ही निन्दित हुए परिश्रम के फलस्वरूप बेबीलोन, ईरान, सिकन्दरिया, यूनान, रोम, वेनिस, जिनेवा, बगदाद, समरकन्द, स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांसीसी, डेनमार्क, डच और अंग्रेजों का क्रमश: आधिपत्य हुआ और उनको ऐश्वर्य मिला। और तुम? कौन सोचता है इस बात को! ... जिनके रुधिर-स्राव से मनुष्य जाति की यह जो कुछ उन्नति हुई है, उनके गुणगान कौन करता है? लोकजयी, धर्मवीर, रणवीर, काव्यवीर, सबकी आँखों पर, सबके पूज्य हैं; परन्तु जहाँ कोई नहीं देखता, जहाँ कोई एक बार 'वाह' 'वाह' भी नहीं करता, जहाँ सब लोग घृणा करते हैं, वहाँ वास करती है अपार सहिष्णुता, अनन्य प्रीति और निर्भीक कार्यकारिता; हमारे गरीब, घर-द्वार पर दिन-रात मुँह बन्द करके कर्म करते जा रहे हैं, उसमें क्या वीरत्व नहीं है? बड़ा काम आने पर बहुतेरे वीर हो जाते हैं, दस हजार आदमियों की वाहवाही के सामने कापुरुष भी सहज ही में प्राण दे देता है; घोर स्वार्थपर भी निष्काम हो जाता है; परन्तु अत्यन्त छोटे-से कार्य में भी सबके अज्ञात भाव से जो वैसी ही नि:स्वार्थता, कर्तव्य-परायणता दिखाते हैं, वे ही धन्य हैं भीड़ – वे तुम लोग हो – भारत के हमेशा के पददलित श्रमजीवियो! – तुम लोगों को मैं प्रणाम करता हूँ।

उनकी वर्तमान अवस्था और इसका कारण

समाज का नेतृत्व चाहे विद्या-बल से प्राप्त हुआ हो, चाहे बाहु-बल से अथवा धन-बल से, पर उस शक्ति का आधार प्रजा ही है। शासक-समाज जितना ही इस शक्ति के आधार से अलग रहेगा, वह उतना ही दुर्बल होगा। परन्तु माया की ऐसी विचित्र लीला है कि जिनसे परोक्ष या प्रत्यक्ष रीति से, छल-बल-कौशल के प्रयोग से अथवा प्रतिग्रह द्वारा शक्ति प्राप्त की जाती है, उनकी ही गणना शासकों के निकट शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

हमारे इस देश में, इस वेदान्त की जन्मभूमि में सैकड़ों वर्षों से हमारे जनसाधारण को सम्मोहित करके इस तरह की हीन अवस्था में डाल दिया गया है। उनके स्पर्श में अपवित्रता समायी है, उनके साथ बैठने से छूत लग जाती है। उनसे कहा जा रहा है – निराशा के अन्धकार में तुम्हारा जन्म हुआ है, तुम सदा इसी अँधेरे में पड़े रहो। और इसका परिणाम यह हुआ कि वे लगातार डूबते चले जा रहे हैं। अन्त में मनुष्य जितनी निकृष्ट अवस्था तक पहुँच सकता है, वहाँ तक वे पहुँच चुके हैं। क्योंकि ऐसा देश कहाँ हैं, जहाँ मनुष्य को जानवरों के साथ एक ही जगह पर सोना पड़ता हो? इसके लिए किसी दूसरे पर दोषारोपण न करो – अज्ञ लोग जो भूल किया करते हैं, वही भूल तुम मत करो। कार्य-कारण दोनों यहीं विद्यमान हैं। दोष वास्तव में हमारा ही है। हिम्मत बाँधकर खड़े हो जाओ – सारा दोष अपने ही सिर पर ले लो। दूसरे पर दोष न मढ़ो। तुम जो कष्ट भोग रहे हो, उसके एक मात्र कारण तुम्हीं हो।

हमारे अभिजात पूर्वज आम जनता को जमाने से पैरों तले कुचलते रहे। इसके फलस्वरूप वे एकदम असहाय हो गये। यहाँ तक कि वे अपने आपको मनुष्य मानना भी भूल गये। सदियों तक वे धनी-मानियों की आज्ञा सिर-आँखों पर रखकर केवल लकड़ी काटते और पानी भरते रहे हैं। ... भारत के गरीबों, पतितों और पापियों का कोई साथी नहीं, कोई सहायक नहीं – वे कितनी भी कोशिश क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे हैं। क्रूर समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे खूब कर रहे हैं, पर वे जानते नहीं कि वे चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका फल है गुलामी।

चिन्तनशील लोग पिछले कुछ वर्षों से समाज की यह दुर्दशा समझ रहे हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश, वे इसका दोष हिन्दू धर्म के मत्थे मढ़ रहे हैं। वे सोचते हैं कि जगत् के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म का नाश ही समाज की उन्नति का एकमात्र उपाय है। सुनो मित्र, प्रभु की कृपा से मुझे इसका रहस्य मालूम हो गया है। दोष धर्म का नहीं है। बल्कि इसके विपरीत, तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी आत्मा के विविध रूप हैं। समाज की इस हीनावस्था

का कारण है, इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में लाने का अभाव, सहानुभूति का अभाव – हृदय का अभाव । भगवान एक बार फिर तुम्हारे बीच बुद्धरूप में आये और तुम्हें गरीबों, दुखियों और पापियों के लिए आँसू बहाना और उनके प्रति सहानुभूति करना सिखाया, परन्तु तुमने उनकी बात पर ध्यान नही दिया । तुम्हारे पुरोहितों ने यह भयानक किस्सा गढ़ा कि भगवान भ्रान्त मत का प्रचार कर असुरों को मोहित करने आये थे । सच है; पर असुर हैं हमीं लोग, न कि वे, जिन्होंने विश्वास किया । और जिस तरह यहूदी लोग प्रभु ईशा का तिरस्कार कर आज सारी दुनिया में सबके द्वारा सताये और दुत्कारे जाकर भीख माँगते हुए फिर रहे हैं, उसी तरह तुम लोग भी, जो भी जाति तुम पर राज्य करना चाहती है, उसी के गुलाम बन रहे हो । हाय अत्याचारियो! तुम जानते नहीं कि अत्याचार और गुलामी मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । गुलाम और अत्याचारी पर्यावाची हैं ।

पृथ्वी पर एसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश करता हो, और पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और नीच जातिवालों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हो । प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन् दोष उनका है, जो ढोंगी और दम्भी हैं, जो 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' सिद्धान्तों के रूप में अनेक प्रकार के अस्त्रों का निर्माण करते हैं । ... भंगियों और चाण्डालों को उनकी वर्तमान हीन दशा में किसने पहुँचाया? हमारे आचरण की हृदयहीनता और साथ ही आश्चर्यजनक अद्वैतवाद के उपदेश ने – क्या यह कटे पर नमक छिड़कने जैसा नही है? ... तुम्हारे पास संसार का महानतम धर्म है और तुम जनसमुदाय को सारहीन और निरर्थक बातों पर पालते हो । तुम्हारे पास चिरन्तन बहता हुआ स्रोत है और तुम उन्हें गन्दी नाली का पानी पिलाते हो । तुम्हारा ग्रैजुएट एक नीची जाति के व्यक्ति का स्पर्श नहीं करेगा, पर वह अपनी शिक्षा के लिए उससे रुपये खींचने को तैयार है ।

इसका समाधान और हमारी जिम्मेदारी

सर्वदा जीवन-संग्राम में व्यस्त रहने के कारण निम्न श्रेणी के लोगों में अभी तक ज्ञान का विकास नहीं हुआ । ये लोग अभी तक मानव बुद्धि द्वारा परिचालित यन्त्र की तरह एक ही भाव से काम करते आये हैं, और बुद्धिमान चतुर व्यक्ति इनके परिश्रम तथा कार्य का सार निचोड़ लेते रहे हैं । सभी देशों में इसी प्रकार हुआ है । परन्तु अब वे दिन नहीं रहे । निम्न श्रेणी के लोग धीरे धीरे यह बात समझ रहे हैं और इसके विरुद्ध सब सम्मिलित रूप से खड़े होकर अपने समुचित अधिकार प्राप्त करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हो रहे हैं । यूरोप और अमेरिका में निम्न जातीय लोगों ने जाग्रत होकर इस दिशा में प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया है और आज भारत में भी इसके लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं । निम्न श्रेणी के व्यक्तियों द्वारा आजकल जो इतनी हड़तालें हो रही हैं, वे इनकी इसी जागृति का प्रमाण हैं । अब हजार कोशिश करके भी उच्च जाति के लोग निम्न श्रेणियों को अधिक दबाकर नहीं रख सकेंगे । अब निम्न श्रेणियों के न्यायसंगत अधिकार की प्राप्ति में सहायता करने में ही उच्च श्रेणियों का भला है ।

इस देश (अमेरिका) में हर व्यक्ति के लिए आशा है, भरोसा है और सुविधाएँ हैं । आज जो गरीब है, वह कल धनी हो सकता है, विद्वान् और लोकमान्य हो सकता है । यहाँ सभी लोग गरीब की सहायता करने में व्यस्त रहते हैं । भारत में यह रोना-धोना मचा है कि हम बड़े गरीब हैं, परन्तु वहाँ गरीबों की सहायता के लिए कितनी दानशील संस्थाएँ हैं? भारत के करोड़ों अनाथों के लिए कितने लोग रोते हैं? हम क्या मनुष्य हैं? हम उनकी उन्नति के लिए क्या कर रहे हैं? उनके मुख में एक कौर अन्न देने के लिए क्या करते हैं? हम उन्हें छूते भी नहीं और 'दुर' 'दुर' कहकर भगा देते हैं । क्या हम मनुष्य हैं?

यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमते हुए और वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर मुझे अपने गरीब देश-वासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था । यह अंतर क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से । शिक्षा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जब कि हमारा ब्रह्मभाव क्रमश: निद्रित – संकुचित होता जा रहा है ।

न्यूयार्क में मैं आइरिश उपनिवेशवासी को आते हुए देखा करता था – पददलित, कान्तिहीन, नि:सम्बल, अति दरिद्र और महामूर्ख, साथ में एक लाठी और उसके सिरे पर लटकती हुई फटे कपड़ों की एक छोटी सी गठरी । उसकी चाल में भय और आँखों में शंका होती थी । छ: महीने के बाद यही दृश्य बिल्कुल बदल जाता । अब वह तनकर चलता था, उसका वेश बदल गया था, उसकी चाल और चितवन में पहले का वह डर दिखायी नहीं पड़ता । ऐसा क्यों हुआ? हमारा वेदान्त कहता है कि वह आइरिश अपने देश में चारों तरफ घृणा से घिरा हुआ रहता था – सारी प्रकृति एक स्वर से उससे कह रही थी कि 'बच्चू' तेरे लिए कोई आशा नहीं है; आजन्म सुनते सुनते बच्चू को उसी का विश्वास हो गया । बच्चू ने अपने को सम्मोहित कर डाला कि वह अति नीच है । इससे उसका ब्रह्मभाव संकुचित हो गया । परन्तु जब उसने अमेरिका में पैर रखा तो चारों ओर से ध्वनि उठी, "बच्चू, तू भी वही आदमी है, जो हम लोग हैं । आदमियों ने ही सब काम किये हैं; तेरे और मेरे समान आदमी ही सब कुछ कर सकते हैं । धीरज धर ।" बच्चू ने सिर उठाया और देखा कि

बात तो ठीक ही है – बस, उसके अन्दर सोया हुआ ब्रह्म जाग उठा; मानो स्वयं प्रकृति ही ने कहा हो, "उठो, जागो और जब तक मंजिल पर न पहुँच जाओ, रुको मत।" (कठो. १.३.४)

वर्तमान सभ्यता – जैसे कि पश्चिमी देशों की है – और प्राचीन सभ्यता – जैसे कि भारत, मिश्र और रोम आदि देशों की रही है – इनके बीच अन्तर उसी दिन से शुरू हुआ जब से शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे धीरे नीच जातियों में फैलने लगी। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस जाति की जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह जाति उतनी ही उन्नत है। भारत के सत्यानाश का मुख्य कारण यही है कि राजशासन तथा दम्भ के बल पर देश की सम्पूर्ण विद्या-बुद्धि मुट्ठी भर लोगों के एकाधिकार में रखी गयी है। यदि हमें फिर से उन्नति करनी है तो हमको उसी मार्ग पर चलना होगा, अर्थात् जनता में विद्या का प्रसार करना होगा। ... अब उपाय है – शिक्षा का प्रसार। ... मेरा विचार है कि भारत और भारत के बाहर मनुष्य-जाति में जिन उदार भावों का विकास हुआ है, उनकी शिक्षा गरीब-से-गरीब और हीन-से-हीन को दी जाय और फिर उन्हें स्वयं विचार करने का अवसर दिया जाय।

उन्हें कौन प्रकाश देगा, कौन उन्हें द्वार द्वार शिक्षा देने के लिए घूमेगा? ये ही तुम्हारे ईश्वर हैं, ये ही तुम्हारे इष्ट बनें। निरन्तर इन्हीं के लिए सोचो, इन्हीं के लिए काम करो, इन्हीं के लिए निरन्तर प्रार्थना करो – प्रभु तुम्हें मार्ग दिखायेंगे। उसी को मैं महात्मा कहता हूँ, जिसका हृदय गरीबों के लिए रोता है, अन्यथा वह तो दुरात्मा है। आओ, हम लोग अपनी इच्छा-शक्ति को एक साथ मिलाकर उनकी भलाई के लिए निरन्तर प्रार्थना में लगायें। हम अनजान, बिना सहानुभूति के, बिना मातमपुर्सी के, बिना सफल हुए मर जायँगे, परन्तु हमारा एक भी विचार नष्ट नहीं होगा। वह कभी-न-कभी फल अवश्य लायेगा। मेरा हृदय भावों से इतना गद्‌गद हो गया है कि मैं उसे व्यक्त नहीं कर सकता; तुम्हें यह विदित है, तुम उसकी कल्पना कर सकते हो। जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वासघातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, परन्तु जो उन पर तनिक भी ध्यान नहीं देता! वे लोग जिन्होंने गरीबों को कुचलकर धन पैदा किया है और अब ठाट-बाट से अकड़कर चलते हैं, यदि उन बीस करोड़ देशवासियों के लिए, जो इस समय भूखे और असभ्य बने हुए हैं, कुछ नहीं करते, तो वे घृणा के पात्र हैं।

उन्हें हमें लोकोपयोगी शिक्षा देनी होगी। हमें अपने पूर्वजों द्वारा निश्चित की हुई योजना के अनुसार चलना होगा, अर्थात् सब आदर्शों को धीरे धीरे जनता में पहुँचाना होगा। उन्हें धीरे धीरे ऊपर उठाओ, अपने बराबर उठाओ। उन्हें लौकिक ज्ञान भी धर्म के द्वारा प्रदान करो।

अब तुम लोगों का काम है प्रान्त प्रान्त में, गाँव गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अब आलस्य के साथ बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। शिक्षा-विहीन, धर्म-विहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो – 'भाई, अब उठो, जागो, और कितने दिन सोओगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल करके उन्हें जाकर समझा दो। इतने दिन इस देश का ब्राह्मण धर्म पर एकाधिकार किये बैठा था। काल-स्रोत में वह जब और अधिक टिक नहीं सका, तो तुम अब जाकर उन्हें समझा दो कि ब्राह्मणों की भाँति उनका भी धर्म में समान अधिकार है। चाण्डाल तक को इस अग्निमंत्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थ-जीवन के अत्यावश्यक विषयों का उपदेश दो।

एक केन्द्रीय महाविद्यालय खोलकर साधारण लोगों की उन्नति के विचार का प्रचार करने में कोई हर्ज नहीं। इस महाविद्यालय के शिक्षित प्रचारकों द्वारा गरीबों की कुटियों में जाकर उनमें शिक्षा एवं धर्म का प्रचार करना होगा। ... यदि कुछ नि:स्वार्थ परोपकारी संन्यासी गाँव गाँव में विद्यादान करते फिरें और भाँति भाँति के उपायों से मानचित्र, कैमरा, ग्लोब आदि के सहारे चाण्डाल तक सबकी उन्नति के लिए घूमते फिरें, तो क्या समय पर इससे मंगल नहीं होगा? ये सभी योजनाएँ मैं इतने छोटे से पत्र में नहीं लिख सकता। बात यह है कि 'यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न आये, तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास जायेगा'। (अर्थात् यदि गरीब के लड़के विद्यालयों में न आ सके, तो उनके घर पर जाकर उन्हें शिक्षा देनी होगी।) गरीब लोग इतने बेहाल हैं कि वे स्कूलों और पाठशालाओं में नहीं आ सकते।

याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ी में बसा है; परन्तु शोक! उन लोगों के लिए कभी किसी ने कुछ किया नहीं। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति उसकी विधवाओं को मिले पतियों की संख्या पर नहीं, बल्कि 'आम जनता की हालत' पर निर्भर है। क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो? उनकी स्वाभाविक आध्यात्मिक वृत्ति को बनाए रखकर, क्या तुम उनका खोया हुआ व्यक्तित्व लौटा सकते हो? क्या समता, स्वतंत्रता; कार्य-कौशल तथा पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या तुम उसी के साथ साथ स्वाभाविक आध्यात्मिक अन्त:प्रेरणा तथा अध्यात्म-साधनाओं में एक कट्टर सनातनी हिन्दू हो सकते हो? यह काम करना है और हम इसे करेंगे ही।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(सतहत्तरवाँ प्रवचन – पंचमांश)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ में और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर सात भागों में प्रकाशित हुए हैं । इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हें धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे है । अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं । – सं.)

सब कुछ उन्हीं का खेल है

इसके बाद वे कहते हैं – सब उन्हीं का खेल है । वे ही बद्ध और वे ही मुक्त कर रही हैं । चोर चोर के खेल में वे ही ढाई बनाकर बैठी हैं । "बुढ़िया ढाई की इच्छा है कि खेल होता रहे । यदि सब लड़के दौड़कर ढाई को छू लें, तो खेल ही बन्द हो जाय ।" जब बुढ़िया देखती है कि एक लड़का उसे कैसे भी छू नहीं पा रहा है, तब वह दया करके उसकी ओर हाथ बढ़ा देती है । क्यों बढ़ा देती है, इसके पीछे कोई युक्ति नही है । वे क्यों कर रहे हैं, वे ही जानें । एक भजन में है – माँ, तुम्ही इच्छामयी तारा हो, सब कुछ तुम्हारी इच्छा से ही होता है । जब तक हम पूरी तौर से उन पर निर्भर नहीं हो पा रहे हैं, तब तक हमें इस खेल में ही अटके रहना पड़ेगा।

इसके बाद वे दुकानदारों की चतुराई के बारे में कहते हैं, "बड़ी बड़ी दुकानों में ऊँची छत तक चावल और दाल के बोरे भरे रहते हैं । परन्तु कहीं चूहे न खा जायँ, इसलिए दुकानदार गोदाम के दरवाजे पर सूप में उनके लिये थोडे-से गुड़ मिले हुए धान के लावे रख देता है । ये खाने में मिठे लगते हैं और गन्ध सोधी होती है, इसलिए सब चूहे सूप पर ही टूट पड़ते हैं, अन्दर के बड़े बड़े कोठों की खोज नहीं करते ।" ठीक इसी प्रकार संसार के छोटे-मोटे क्षणिक आनन्द में हम लोग इतने मुग्ध रहते हैं कि हमें असीम आनन्द का आभास तक नही मिलता, उस ओर दृष्टि ही नहीं जाती । उस आनन्द को पाने के लिये मन को छोटे-मोटे आनन्दों से दूर हटा लेना होगा । विषय-भोग और भगवान का आनन्द – ये दोनों एक साथ नहीं होते । इनमें से एक को छोड़ना होगा । छोड़ना होगा का तात्पर्य यह नहीं है कि गृहत्याग कर देना होगा, बल्कि निर्लिप्त होकर रहना होगा । पाँकाल मछली के समान रहना होगा । पाँकाल मछली कीचड़ में रहती है, परन्तु उसके शरीर में कीचड़ नहीं लिपटता । साधना करने से, प्रयास करने से निर्लिप्तता आएगी और तब इस संसार के सुख-दु:ख हमें स्पर्श नहीं कर सकेंगे । परन्तु ऐसा हम चाहते ही कहाँ है! हम तो चाहते है कि दु:खो से बचकर केवल सुखों की प्राप्ति करते रहें । जब ऐसा नही हो पाता, तब हम कहते हैं – हे भगवान, यह तुमने क्या किया? मानो भगवान हमारी हुक्म बजा लाने के लिये बैठे हों । उपनिषद् में कहा है –

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ।। कठ. २/१/१

भगवान ने हमारी समस्त इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है । इसीलिए इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं को ही देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देखतीं । कोई विरले बुद्धिमान व्यक्ति ही मन को संयमित करके, उसे विपरीत दिशा में अर्थात् अन्तर की ओर परिचालित करते हैं । तब उन्हें अन्तरात्मा की उपलब्धि होती है । वे ऐसा क्यों करते हैं? अमृतत्व पाने की इच्छा से । वे जानते हैं कि विषयों की कामना करना ही मृत्यु है और विषयों से वैराग्य तथा आत्मज्ञान में स्थित होना ही मुक्ति या अमरत्व है । इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है – **नान्यः पन्था विद्यते अयनाय** ।

भक्त और भगवान अभिन्न हैं

ठाकुर ईशान से और भी कहते हैं – राम ने नारद से वर माँगने को कहा था । नारद बोले, 'यही वर दो, जिससे तुम्हारे चरण-कमलों में शुद्धा भक्ति हो, फिर से संसार को मोह लेनेवाली तुम्हारी इस माया में मुग्ध न होऊँ ।' राम द्वारा कोई अन्य वर देने की इच्छा व्यक्त करने पर नारद ने कहा, 'राम, मैं और कुछ नहीं चाहता ।' इतना कहने के बाद ठाकुर कहते हैं कि उन्होंने भी शुद्धा भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं माँगा । इसके बाद वे कहते हैं, "अध्यात्म-रामायण में है कि लक्ष्मण ने राम से पूछा, 'राम, तुम तो कितने ही रूपों और कितने ही भावों में रहा करते हो, फिर किस तरह मैं तुम्हें पहचान पाऊँगा?' राम बोले, 'जहाँ ऊर्जिता भक्ति है, वहाँ मैं अवश्य ही हूँ ।' ऊर्जिता भक्ति के होने पर भक्त हँसता है, रोता है, नाचता है, गाता है । अगर किसी में ऐसी भक्ति हो, तो निश्चय समझना, ईश्वर वहाँ मौजूद हैं । चैतन्यदेव को ऐसा ही हुआ था ।" मास्टर महाशय सोच रहे हैं – केवल चैतन्यदेव की ही क्यों, ठाकुर की भी तो ऐसी ही अवस्था है । तो फिर क्या यहाँ साक्षात् ईश्वर स्वयं ही विद्यमान हैं?

ईश्वर-बुद्धि से परोपकार और कर्तृत्व-बुद्धि का त्याग

अब वे ईशान को निवृत्ति-मार्ग के बारे में बता रहे हैं, "तुम खुशामद करनेवालों की बातों में न आना ।" ईशान

धनाढ्य व्यक्ति हैं, उनके चारों ओर चाटुकार रहते हैं, इसीलिये ठाकुर उन्हें सावधान कर देते हैं। इसके बाद वे कह रहे हैं, "मुखियाई और सरपंची, दया, परोपकार – यह सब तो बहुत किया। अब सब कुछ छोड़कर माँ के पादपद्मों में मन लगाओ। भक्ति गहरी हो जाने पर अन्य कार्यों में मन नहीं जाता।" यहाँ आपात् दृष्टि से लगता है मानो ठाकुर कह रहे हैं कि जनहित के कार्य उतने आवश्यक नहीं हैं, परन्तु उनका वास्तविक तात्पर्य यह है कि जनहित के कार्य किस उद्देश्य से किये जा रहे हैं, उसी पर उनकी उपयोगिता निर्भर करती है। यदि इनके पीछे प्रसिद्धि की इच्छा हो, तो वे मनुष्य के बन्धन का कारण होती हैं। ईशान के मन में ऐसी ही इच्छा थी। इसीलिये वे ईशान से कहते हैं कि सब छोड़कर भगवान को पुकारो। जिन्होंने अपना पूरा मन भगवान को अर्पित कर दिया है, वे भला कर्म करेंगे? ठाकुर कहते हैं कि जो क्लर्क जेल से छूटा है, वह नाचता फिरेगा या क्लर्की ही करेगा? अर्थात् साधना करते करते यदि किसी को भगवान का दर्शन हो जाय, तो वह क्या करेगा? पहले जो कुछ कर रहा था, वही करेगा; पूरा मन-प्राण ईश्वर में अर्पित करके रहेगा। इस प्रकार ईश्वर को मन-प्राण अर्पित किये हुए ज्ञानी क्या हर समय आँखें मूँदे हुए बैठे रहते हैं? गीता का कहना है कि ऐसी बात नहीं है, तब वे सर्वभूतों के हित में लगे रहते हैं। वे कोई उद्देश्य लेकर नहीं, बल्कि स्वभाव से ही कर्म करते हैं। उद्देश्य लेकर कार्य करने से अभिमान-अहंकार आता है। ठाकुर कहते कि इस विशाल विश्व-ब्रह्माण्ड में तुम भला दुनिया की कितनी भलाई करोगे? परन्तु यदि कोई इस भाव के साथ कि वे ही सर्वभूतों में विराजमान हैं, जगत् की सेवा करे, तो उसमें दोष नहीं हैं। दोष तब होता है, जब हम अपने में कर्तापन लाकर, दूसरों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता का बोध करते हुए स्वाभिमान से फूलकर परोपकार करते हैं। इससे आध्यात्मिक जीवन में अवनति आती है। परन्तु जहाँ 'जगत् की सेवा उन्हीं की सेवा है' – इस बोध के साथ काम हो रहा है, वहाँ ऐसी कोई आशंका नहीं है। वहाँ कर्तृत्व-बोध नहीं रहता और उसके फलस्वरुप कर्म के बन्धन में आबद्ध भी नहीं होना पड़ता।

गीता (३/५) में कहा गया – **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत्** – कोई कभी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म को छोड़ मनुष्य के लिये दूसरा कोई उपाय नहीं। परन्तु वह कर्म क्यों करेगा? – किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये करेगा। क्या करेगा? – उस उद्देश्य की सिद्धि के लिये जो कुछ सहायक होगा, वही करेगा। उसके बाद है करण अर्थात् किस प्रणाली से करेगा? **किं कुर्यात्, केन कुर्यात्, कथं कुर्यात्** – यह वेदों के कर्मकाण्ड की बात है। अब भगवान कहते हैं कि मनुष्य कामना से वशीभूत होकर जो कर्म करता है उसका भले के साथ साथ बुरा फल भी होता है। अत: हमें कर्म भले फल के साथ-ही-साथ बुरा फल भी स्वीकार करना पड़ता है। पर कोई निष्काम हो, तो जैसे उसे भले फल की इच्छा नहीं रहती, वैसे ही बुरा फल भी उसका स्पर्श नहीं करता। गीता में कहा है कि इस निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होती है, अत: चित्तशुद्धि के लिये कर्म करो – यह एक उपाय हुआ। दूसरी बात यह है कि जिसके मन में कोई कामना नही है, वह कर्म में प्रवृत्त ही क्यों होगा? उसी के उत्तर में ठाकुर ने वह बात कही कि क्लर्क जेल से छूटने के बाद क्या नाचता फिरेगा? अर्थात् कामनाहीन हो जाने पर व्यक्ति क्या जड़ हो जायेगा? या उसकी मृत्यु हो जायेगी? ऐसी बात नहीं है। कामनाहीन हो जाने पर भी वह कर्म करता रहेगा, भेद केवल इतना ही होगा कि अब वह कामना के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि स्वभाववश कर्म करेगा। उसका स्वभाव ही है जगत् का हित करना, जैसा कि कहा है – **सर्वभूत हिते रता:** – यह उसका कोई विशेष अनुष्ठान नहीं, बल्कि उसका अपना स्वभाव है, जो श्वास-प्रश्वास के समान स्वभावत: ही होता जा रहा है। दूसरों के लिये जो कामना द्वारा प्रेरित कर्म है, वे ही ज्ञानी के लिये स्वभाविक कर्म हैं। जगत् का कल्याण उनके द्वारा स्वभावत: ही होता है, वे इच्छा करके जगत् का हित करने नहीं जाते। जैसा कि गीता में कहा है –

सक्ता: कर्मणि अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ ३/२५

– जैसे अज्ञानीगण कामनाओं से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, ज्ञानीगण भी अनासक्त होकर उसी प्रकार कर्म करते हैं। यहाँ पर और भी कुछ कहा गया है – लोकसंग्रह – कर्म द्वारा लोकों का कल्याण होगा, इसी भाव से वे कर्म करते हैं। और यह भाव उन्हें प्रयासपूर्वक नहीं लाना पड़ता। वे जो कुछ भी करते हैं, उसी से लोगों का कल्याण होता है।

यह जगत् का हित करना – इसका एक विशेष साधन के रूप में भी उपयोग हो सकता है। जगत् का भला करो, कार्य करते करते कामनाओं का नाश होगा, इससे कल्याण होगा – यह भी एक बात है। शास्त्र में इस पथ का विधान है और वह युक्तियुक्त भी है। लेकिन एक बात है। मनुष्य को जब इसके भी पार जायेगा, तब उसमें यह भाव भी नहीं रहेगा कि 'चित्तशुद्धि के लिये कर्म करना है'। ठाकुर ईशान को उनके जनहितकर कार्यों से परे जाने को कह रहे हैं। कह रहे हैं कि सब छोड़कर भगवान का चिन्तन करो। शास्त्रों में कई प्रकार से इस कर्मत्याग का उल्लेख हुआ है। व्याख्याकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सकाम कर्मों का त्याग करना होगा, पूरी तौर से कर्मत्याग सम्भव नहीं है, शास्त्र कभी ऐसा करने को नहीं कहते। शंकराचार्य कर्म के इतने विरोधी हैं, तथापि वे

अपनी गीता-व्याख्या में कहते हैं कि सभी कर्म हेय नहीं हैं। जब कामना से वशीभूत होकर कर्म किये जाते हैं, तो शंकर की दृष्टि में वे कर्म ही नहीं है। एक उदाहरण लेते हैं। कोई व्यक्ति एक उद्देश्य लेकर एक यज्ञ कर रहा है। करते करते उसके मन में वैराग्य आया और कामना का लोप हो गया। तो भी उसने यज्ञ को बीच ही न छोड़कर उसे पूरा किया। वह कर्म नही हुआ – **न तत् कर्म**। शंकर के मतानुसार फलाकांक्षा से रहित कर्म कर्म ही नहीं है। उनके कर्म की इस परिभाषा को स्मरण रखना होगा। कई बार हम लोग शंकर की दुहाई देते हुए कर्महीन होना चाहते हैं, हँसी में उसे नैष्कर्म-सिद्धि कहते हैं। उसका तात्पर्य यह नहीं कि हम सारे काम-काज छोड़कर हाथ-पाँव समेटे बैठे रहेंगे। एक बार हमारे एक संन्यासी ने स्वामी तुरीयानन्द को सूचित किया कि कर्म करने से अभिमान आता है, अत: अब से उन्होंने कर्म न करने का निश्चय किया है। इसके उत्तर में उन्होंने लिखा – तुम्हारे हाथ-पाँव समेटकर बैठे रहने से ही क्या तुम्हारा अभिमान चला जायेगा!

न कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते – कर्म का अनुष्ठान किये बिना कोई भी कर्मबन्धन से मुक्त होकर निज स्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। (गीता, ३/४) आचार्य शंकर कहते हैं कि चुप बैठे रहना भी एक तरह का कर्म है। इसमें शरीर बैठा बैठा सोचता रहता कि वह चुपचाप बैठा हुआ है। शरीर के ऊपर आत्मा के इस तादात्म्य का आरोपण भी एक कर्म है और वह भी बन्धन का कारण है। अत: नैष्कर्म का अर्थ कर्म से विरत होना नहीं, बल्कि वह ज्ञान है, जिसके द्वारा मनुष्य यह समझ सकता है कि वह कर्ता नहीं है। **नाहं किंचित् करोमि** – मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ। यह बोध आ जाने पर मनुष्य हजार कर्मों के बीच भी निष्कर्म रहता है। गीता का यही उपदेश हमें विशेष रूप से स्मरण रखना होगा और शंकर ने स्पष्ट रूप से नैष्कर्म्य का यही अर्थ बताया है।

कोई कोई इन्हीं सब विषयों पर ठाकुर के साथ स्वामीजी के मतभेद की कल्पना करते हुए कहते हैं कि ठाकुर कर्मत्याग करने को कहते हैं, पर स्वामीजी खूब कर्म करने को कहते हैं। यहाँ हम उनकी उक्तियों को ठीक से न समझकर उन्हें परस्पर विरोधी समझ बैठते हैं। ठाकुर ने भले-बुरे सभी कर्मों को कर्तृत्व का अभिमान छोड़कर करने को कहा है। और स्वामीजी ने निष्काम कर्म करने को कहा है। उन्होंने अनेक स्थानों पर गीता की यह बात कही है – **योग: कर्मसु कौशलम्** – कर्मयोग का अर्थ है कर्म के सम्पादन में दक्षता (२/५०)। जो कर्म बन्धन का कारण है, वही कौशलपूर्वक करने से मुक्ति का कारण होगा। गीता में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है। जब हम स्वयं को अकर्ता समझेंगे, तभी कर्मत्याग होगा। ठाकुर भी बारम्बार यही कह रहे है कि तुम अकर्ता का भाव रखो। हम स्वयं को ईश्वर से भिन्न रूप में देखकर अपने को कर्ता समझकर सोचते हैं कि मैं इस कर्म के द्वारा यह फल प्राप्त करूँगा या मैं जगत् का कल्याण करूँगा। इस तरह के सभी कर्म बन्धन का कारण होते हैं। अपने को अकर्ता बोध करने पर अथवा 'मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, उसके द्वारा उन्हीं की पूजा कर रहा हूँ' – इस भाव के साथ कर्म करने पर कोई दोष नहीं होगा। ठाकुर कहते हैं कि यह सोचने की आवश्यकता नहीं कि कर्म करूँ या न करूँ बल्कि यह सोचना होगा कि कर्म को किस भाव से करूँ। भगवान अर्जुन से कहते हैं –

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। २/५२

– जब तुम्हारी बुद्धि मोह से मुक्त हो जायेगी, तभी श्रवणीय तथा श्रुत विषय तुम्हें निष्फल-निरर्थक प्रतीत होंगे। इस समय तुम अपने अकर्तापन का बोध न करने में असमर्थ होकर सोच रहे हो कि मैं कर्म करूँ या न करूँ। इसका निर्णय करने वाले तुम कौन होते हो? इस कर्तापन को छोड़े बिना कोई भक्त या ज्ञानी नहीं हो सकता। स्मरण रखना होगा कि चाहे कर्ममार्ग हो या भक्तिमार्ग, अकर्तापन का भाव लाना आवश्यक है। ऐसा होने पर हमें कर्म से छुटकारा मिल सकता है। जैसा कि गीता में कहा है –

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। ३/१७

– जो केवल आत्मा में ही आनन्दित, आत्मा में तृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं, उनका कोई कर्तव्य नहीं रह जाता।

वे अर्जुन से और भी कहते हैं –

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।

– तीनों लोकों में मेरा कोई कर्तव्य नहीं है और मेरे लिये अप्राप्त या प्राप्य कुछ भी नहीं है, तथापि मैं सर्वदा कर्मों में लगा रहता हूँ। ऐसा कुछ नहीं है जो मुझे प्राप्त नहीं है या जिसे पाना हो, तथापि मैं जगत् के कल्याण हेतु कर्म करता हूँ। और वह भी मुझे प्रयासपूर्वक नहीं करना पड़ता, स्वभावत: ही होता है। ज्ञानी का और भक्त का भी इसी प्रकार स्वभावत: कर्म हो जाता है और उसके द्वारा जगत् का हित भी होता है, परन्तु किसी आकांक्षा को लेकर कर्म करने से उसके बन्धन में पड़ जाना होगा। ठाकुर कहते हैं कि ईश्वर के पथ पर अग्रसर होने में भले कर्म, वैधी भक्ति या आनुष्ठानिक धर्म कभी थोड़े-बहुत सहायक हो सकते हैं, परन्तु इनके भी परे जाना होगा।

छत पर पहुँचने के लिये एक एक कर सीढ़ियाँ पार करनी होंगी। एक ही सीढ़ी पर अटके रह गये, तो छत पर नहीं पहुँचा जा सकता। इसीलिए पहले भले कर्म के द्वारा बुरे कर्मों का त्याग करना होगा। इसके बाद कहते हैं कि उसका भी त्याग करो। अर्थात् जिस अभिमान के द्वारा हम भले कर्म

करते हैं, उस अभिमान का भी त्याग करना होगा। केवल तभी कहा जा सकता है – 'जैसा कराती हो वैसा करता हूँ, जैसा बुलवाती हो वैसा बोलता हूँ।'

इसके बाद एक बात और कहते हैं, "आदमी गुरु नहीं हो सकता, ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ हो रहा है।" यह वे ईशान से कह रहे हैं। तुम सोचते हो कि दूसरों को उपदेश दोगे, लोकशिक्षा दोगे; पर जब यह बोध होता है कि ईश्वर की इच्छा से सब हो रहा है, तब ऐसा कर्तृत्व-बोध नहीं रहता कि 'मैं उपदेश दूँगा'। ठाकुर एक जगह कहते हैं – देखता हूँ कि वे ही सब हुए हैं, इसीलिए किससे कहूँगा और क्या कहूँगा!

उसके बाद वे बोले, "महापातक, बहुत दिनों के पातक, बहुत दिनों का अज्ञान, सब उनकी कृपा होने पर क्षण भर में मिट जाता है।" उनकी कृपा होने पर मनुष्य क्षण भर में शुद्ध-पवित्र हो जाता है। "हजार साल अँधेरे कमरे में अगर एकाएक उजाला हो, तो वह हजार साल का अँधेरा जरा जरा-सा हटता है या एक साथ ही चला जाता है?" वस्तुतः प्रकाश को देखते ही सारा अन्धकार भाग जाता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि स्वयं को अकर्ता समझ सके, तभी ज्ञान होता है। उस समय क्या उसका अज्ञान थोड़ा थोड़ा करके दूर होता है? ऐसी बात नहीं है। क्षण भर में ही वह समझ लेता है कि वह पूर्णतः अकर्ता है। आदमी क्या करेगा? "आदमी यही कर सकता है वह बहुत-सी बातें बतला सकता, परन्तु अन्त में सब ईश्वर के ही हाथ है। वकील कहता है – मुझे जो कुछ करना था, मैंने कर दिया; अब न्यायाधीश के हाथ की बात है।"

एक बात और है। कई बार अच्छे कर्मों का प्रयास सफल-सार्थक नहीं होता। तब आदमी कहता है कि इतना सब किया, परन्तु कोई फल नहीं हुआ। इससे उसके मन में खेद भी होता है। परन्तु जो व्यक्ति सब कुछ ईश्वर की इच्छा समझकर करता है, उसके लिए खेद का कोई कारण नहीं रहता। ईश्वर की इच्छा के बिना मनुष्य संसार को बदल नहीं सकता। कितने ही बार कितने ही लोगों द्वारा प्रयास हुए हैं, परन्तु क्या कोई सफल हो सका है? सारा जगत् जगन्नियन्ता के द्वारा परिचालित हो रहा है, इस बात को समझ न पाकर हम लोग अभिमानवश सोचते हैं कि हम यह करेंगे, वह करेंगे। ठाकुर ने उपमा दी है – पुतली-नाच की कठपुतली को देखकर सभी सोचते हैं कि कठपुतली नाच रही है, परन्तु कोई व्यक्ति पीछे से डोरी पकड़ कर उसे नाचा रहा है। वास्तविक कर्ता ही कर्म करा रहे हैं और हम सोचते हैं कि हम ही कर रहे हैं। इस कर्तापन से मन में अशान्ति आती है। कर्म के बाद आशानुरूप फल न मिलने पर मन में दुःख होता है। इसी कारण गीता में कामनाहीन होकर कर्म करने को कहा है। यही कर्मयोग है। यहाँ ठाकुर के कथन का सार यह है कि उन्हीं की इच्छा से सब कुछ हो रहा है और मैं अकर्ता हूँ – यही बोध लाना होगा।

उपनिषद् में एक कथा है कि एक बार असुरों के ऊपर विजय प्राप्त करने के बाद देवताओं ने गर्वित होकर सोचा – **अस्माकम् एव अयं विजयो अस्माकम् एव अयं महिमा** – यह हमारी ही विजय और हमारी ही महिमा है। बाद में उमा के रूप में प्रकट होकर ब्रह्म ने उन्हें समझा दिया कि यह उन ब्रह्म की ही विजय तथा महिमा थीं। हम लोग भी सफल होने पर सोचते कि यह हमारी सफलता है। फिर असफल होने पर दुःखी होकर सोचते हैं कि हार गया। परन्तु यह भाव रखने पर कि वे ही सब कुछ कर रहे हैं, हम सफल होने पर भी अभिभूत नहीं होंगे और असफल होने पर भी विचलित नहीं होंगे। गीता में इस बात को कई तरह से समझाया गया है।

कर्म और भक्ति

इसके बाद ठाकुर मास्टर महाशय के साथ धर्म-अधर्म के विषय में बातें कर रहे हैं। कवि रामप्रसाद ने कहा है – "मैंने काली ही ब्रह्म है, यह मर्म समझकर धर्म तथा अधर्म – दोनों को छोड़ दिया है।" अधर्म को छोड़ना समझ में आता है, परन्तु धर्म को भी छोड़ने के लिये क्यों कहते हैं? इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ठाकुर कह रहे हैं, "यहाँ धर्म का तात्पर्य वैधी धर्म से है – जैसे दान, श्राद्ध, कंगालों को खिलाना, यही सब। इसी धर्म को कर्मकाण्ड कहते हैं। यह मार्ग बड़ा कठिन है। निष्काम कर्म करना बहुत मुश्किल है। इसीलिए भक्ति पथ का आश्रय लेने को कहा गया है।" मीमांसा शास्त्र में धर्म का तात्पर्य है वेदविहित कर्म, परन्तु धर्म के भीतर भी दो विभाग हैं, उनमें से एक को 'वैधी' कर्म कहते हैं और दूसरे प्रकार का धर्म वह है जो व्यापक अर्थ में मनुष्य को धर्म-अधर्म के पार ले जाता है।

परन्तु वेदविहित वैधी कर्म को क्यों छोड़ना होगा? इसके उत्तर में मीमांसा शास्त्र का कहना है कि वेद में अधिकारी देखकर कर्म करने को कहा गया है। अधिकारी किसे कहेंगे? किसी विशेष कर्म के द्वारा जिस फल की प्राप्ति होती है, उस फल के आकांक्षी को अधिकारी कहते हैं; जैसे स्वर्ग की आकांक्षा करनेवाले के लिये सोमयाग का विधान है। उनके मतानुसार वेद में बताये गये सारे कर्म ही सकाम हैं। यहाँ तक कि सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म, जिनके फल के बारे में वेद में कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है, वे भी मीमांसकों के मतानुसार पूरी तौर से निष्काम नहीं हैं। क्यों नहीं है? इसलिए कि उन्हें न करने पर पाप लगेगा। अतः पाप को दूर रखने की जो इच्छा है, वह भी इच्छाओं के अन्तर्गत आती है। उनका कहना है कि यदि कर्म का कोई फल न हो, तो फिर कर्म करने की प्रवृत्ति क्यों होगी? हम लोग जिसे 'मोटिव-लेस ऐक्सन'

कहते हैं, कोई मोटिव या उद्देश्य नहीं है तथापि कर्म हो रहा है – यह एक अयुक्तिसंगत बात है । उद्देश्य के बिना कर्म नहीं होता । इस प्रकार मीमांसकों के मतानुसार निष्काम कर्म होता ही नहीं, प्रत्येक कर्म ही सकाम है ।

ठाकुर कहते है कि सकाम कर्म बड़ा कठिन है । क्योंकि कर्म करने से ही उसके अच्छे फलों के साथ-ही-साथ बहुत-से बुरे फल भी आ जाते हैं । उनका क्या होगा? मीमांसक लोग इसके लिये प्रायश्चित का विधान करते हैं । जैसा कि कहा गया है – **पूर्णं भवतु तत् सर्वं त्वत् प्रासादात् महेश्वरी** – जो कर्म अपूर्ण रह गये हों वे तुम्हारी कृपा से पूर्ण हो जायँ । परन्तु जो लोग कर्म के बारे में जानते हैं, उनका कहना हैं कि इस प्रकार की विधि के द्वारा कर्म की त्रुटियों का खण्डन नहीं किया जा सकता । वैसे मीमांसकों ने खूब सावधान कर दिया है कि कर्म करना है, तो उसमें आनेवाली विघ्न-बाधाओं को दूर करते हुए उसे सम्पन्न करना होगा । उदाहरण के लिये प्रत्येक मंत्र की आवृत्ति करते समय जहाँ जैसा उच्चारण आवश्यक है, वहाँ ठीक उसी प्रकार की व्याकरण-सम्मत आवृत्ति करनी होगी ।

एक दृष्टान्त भी दिया गया है । देवताओं ने असुरों को हरा दिया था, इसीलिए असुरगण यज्ञ कर रहे थे । जो आहुति दे रहे थे, उन्होंने कहा – इन्द्रशत्रु उत्पन्न हो अर्थात् इन्द्र का विनाश करनेवाला वृत्तासुर उत्पन्न हो । परन्तु उच्चारण थोड़ा लम्बा खिंच जाने के कारण उसका तात्पर्य बदलकर हो गया इन्द्र द्वारा विनाश होनेवाला उत्पन्न हो । इसका फल विपरीत हुआ । इसीलिए सावधान कर दिया गया है कि उच्चारण में गल्ती न हो । उपनिषद् में एक अन्य जगह है – जिस देवता को आहुति दी जा रही है, उसे जाने बिना यदि आहुति दोगे तो तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा । यह भयंकर बात सुनकर यजमानों ने आहुति देनी बन्द कर दी । दल-के-दल पुरोहित यज्ञ से विरत हो गये । इतनी गड़बड़ियों को दूर करके ठीक ठीक कर्म करना आसान नहीं है । गीता में भी कहा गया है –

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। (३/३८)

– मनुष्य के समस्त कर्म उसी प्रकार दोषों से आच्छन्न रहते हैं, जैसे कि अग्नि धुएँ के द्वारा आच्छन्न रहती है । बिना धुएँ के अग्नि नही होती ।

इसीलिए ठाकुर कर्मयोग का पथ छोड़कर भक्तिपथ का आश्रय लेने को कहते हैं । भक्तिपथ में भक्ति ही काम्य है, भगवान की प्रीतिलाभ करना ही भक्त का लक्ष्य है । **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः** – अपने कर्म के द्वारा भगवान की आराधना करके मनुष्य सिद्धिलाभ करता है । (१८/४६) यहाँ कर्मफल में बद्ध होने का कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वह कर्म का फल अपने लिए न रखकर भगवान को समर्पित कर देता है । उसका सारा कर्म भगवान की प्रीतिलाभ के लिए होता है । कामना के साथ कर्म करने से उसके फल का भोग करना पड़ता है । उन्होंने दृष्टान्त दिया – एक घर में श्राद्ध के उपलक्ष्य में भोज चल रहा था । एक कसाई उधर से होकर गुजर रहा था । धूप के कारण वह भी खाने बैठ गया । बाद में जब उसने गोहत्या की, तो श्राद्ध करनेवाले को भी उसके पाप का अंश भोगना पड़ा, उस श्राद्ध-कार्य के पीछे उसकी कामना थी ।

यहाँ पर हमें कार्मकाण्ड के तात्पर्य को थोड़ा ठीक से समझ लेना होगा । वेद में कर्म करने को कहा गया है, परन्तु सावधानी के साथ करने को कहा गया है, ताकि उसमें कोई भूल-त्रुटि न हो जाय । यज्ञ के अनुष्ठान के समय जो प्रत्यक्ष रूप से यज्ञकार्य में कोई भाग नहीं लेते, वहाँ ध्यान करते हैं; ध्यान के द्वारा यज्ञ के विघ्नों को दूर करते हैं, उन्हें 'ब्रह्मा' कहा जाता है । वे पुरोहितों में एक श्रेष्ठ यज्ञविद् होते हैं । उन्हें इतने उच्च स्तर का होना चाहिए कि उनके ध्यान के द्वारा ही यज्ञ के सारे विघ्न दूर हो जायँ । कर्मकाण्ड इतना जटिल है!

निष्काम कर्म और कर्मयोग

ठाकुर अब भक्तों से कह रहे हैं, "ईशान को देखा – कहीं कुछ नहीं हुआ । कहते क्या हो कि इसने पाँच महीने तक पुरश्चरण किया है? कोई दूसरा होता, तो उसमें एक और ही बात पैदा हो गयी होती ।" ईशान द्वारा आचरित पथ की भूल को उनके सामने रख रहे हैं । ईशान ने इतनी तपस्या की है, परन्तु ठाकुर ने देखा कि इससे उनकी जितनी आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए थी, वैसा कुछ नहीं हुआ है । इतना जप-तप यदि वे केवल अनुष्ठान के रूप न करके अनुराग के साथ करते, तो उसका काफी फल होता । एक बार एक साधु ने श्री माँ से कहा, "माँ, तंत्र में कहा है कि एक लाख पुरश्चरण करने से सिद्धि मिल जाती है । मैंने तो उससे भी अधिक किया, परन्तु कोई फल तो नहीं हुआ!" माँ हँसते हुए बोलीं, "बेटा, तुम तो संन्यासी हो, तुम्हें इतना संकल्प-विकल्प से क्या करना?" माँ ने शास्त्र नहीं पढ़े थे । उन्होंने सामान्य रूप से जो उत्तर दिया उसका तात्पर्य यह है कि संन्यासी को संकल्प-विकल्प छोड़कर कर्म करना होगा, इसलिए 'फल क्यों नहीं हुआ' – ऐसा प्रश्न करना उसके लिए उचित नहीं है । यह केवल संन्यासी के लिए ही नहीं, बल्कि भक्तों के लिए भी ठीक है । भक्त भी उन्हीं के समान सभी संकल्पों का परित्याग करेगा । वैसे नैमित्तिक पूजा में उसे आरम्भ करते समय संकल्प करने का विधान है । यह संकल्प दो प्रकार का होता है । पहला – इस पूजा के द्वारा यह फल होगा । और जो लोग बुद्धिमान हैं, वे कहते हैं – **श्री भगवत्-प्रीतिकामः** – भगवान की प्रीति की इच्छा से पूजा कर रहा हूँ, किसी लाभ के लिए

नहीं। उनकी प्रीति के लिए कर्म करने से कर्म का फल नहीं होता। फल ही तो दोष है। निष्काम कर्म से तात्पर्य उसी तरह के कर्म से है। तो फिर उसके पीछे कौन-सा प्रेरक कारण रहता है? भगवान की प्रीति ही वह कारण है। भक्त की यदि इसमे रुचि न हो, तो किसमें होगी? यह भाव अवश्य ही कर्म के लिए प्रेरणा जुटाएगा। वैसे मीमांसक लोग इसके पीछे भी यह उद्देश्य छिपे होने का हिसाब लगाते हैं कि भगवान इस कर्म का हजारगुना फल लौटायेंगे। ठाकुर के मतानुसार इस तरह की हीन बुद्धि के द्वारा परिचालित होनेवाला कर्मकाण्ड अत्यन्त दोषपूर्ण है। भगवान की प्रीति के लिए अथवा कर्तापन का भाव छोड़कर यदि कर्म किया जाय, तो उस कर्म में दोष नही है। कर्मफल से बचने के ये ही दो उपाय हैं।

अधर डिप्टी मजिस्ट्रेट हैं, हिसाबी व्यक्ति हैं, दूसरों के भले-बुरे का निर्णय करते हैं। वे ठाकुर पर भी थोड़ा-सा विचार करते हैं, कहते हैं, "हम लोगों के सामने उन्हें (ईशान को) इतनी बातें कहना अच्छा नहीं हुआ।" इस पर ठाकुर कहते हैं, "क्यों, क्या हुआ? वह तो जापक हैं, उसके ऊपर शब्दो का क्या असर!" ठाकुर ईशान को बहुत छोटा नहीं दिखा रहे हैं या उन्हें हेय नहीं सिद्ध कर रहे हैं। वे ईशान की त्रुटियाँ इसलिए दिखा रहे हैं, ताकि वे इस कर्मजनित दोष से मुक्त होकर और भी उन्नति कर सकें। इसके सिवा वे सबके समक्ष ईशान गुणों का भी उल्लेख करते हुए कहते हैं, "ईशान बड़ा दानी है और देखो, जप-तप बहुत करता है।"

योग और भोग का समन्वय

इसके बाद वे थोड़ी देर तक मौन रहने के बाद सहसा अधर की ओर उन्मुख होकर कहते हैं, "तुम लोगों के योग और भोग दोनों हैं।" जो लोग अधर के समान भक्त हैं, वे सर्वत्यागी नहीं होते। ठाकुर उन लोगों को सर्वत्याग का उपदेश नहीं देते; संयमित रूप से भोग करने को कहते हैं। ऐसा करने पर भोग उन्हें उच्छृंखल नहीं कर सकेगा। भोग होगा, परन्तु योग में रहकर भोग होगा। तात्पर्य यह कि भोग में मग्न होकर कहीं जीवन का वास्तविक उद्देश्य खो न जायँ। सामान्य लोगों में अधिकांश इसी श्रेणी के होते हैं। पूरी तौर से भोगों का त्याग करनेवाले भला कितने लोग हैं? समस्त देहधारी कमोबेश भोग और त्याग का समन्वय करके चलते है, भेद केवल परिमाण का है। उन सभी को खुले-हाथों सर्वत्याग का उपदेश देने से उसका क्या परिणाम होगा? या तो उनकी आदर्श के प्रति श्रद्धा लुप्त हो जायेगी अथवा वे स्वयं को अनधिकारी समझकर आत्मविश्वास खो बैठेंगे। जो जहाँ है वहीं से उसे उत्साहित करके अग्रसर कराना होगा। उसे कहना होगा कि तुम्हारे पास जो है वह अच्छा है, परन्तु तुम्हें और भी आगे बढ़ जाना होगा। लकड़हारे द्वारा हीरे की खान पानेवाले दृष्टान्त के समान ही मनुष्य थोड़ा-थोड़ा करके और भी आगे बढ़ जाय, तो एक दिन उसे भी हीरे की खान मिल जायेगी। पूरी तौर से त्याग सहज ही नहीं होता। उसे एक एक कदम करके लक्ष्य की ओर ले जाना होगा।

हमारे शास्त्रों में 'अरुन्धती न्याय' बताया गया है। अरुन्धती नक्षत्र इतना छोटा है कि उसे ढूँढ़ निकालना कठिन होता है। इसीलिए अरुन्धती को दिखाते समय पहले सप्तर्षि को दिखाया जाता है। इसके बाद पूँछ की ओर से तीसरे नक्षत्र को वशिष्ठ बताया जाता है। उसे देख पाने के बाद कहा जाता है कि खूब ध्यान से देखो, उसकी बगल में एक छोटा-सा नक्षत्र है। तब उसी ओर ध्यान से देखने पर अरुन्धती को देखा जा सकता है। एक ही वाक्य में बताने पर कोई अरुन्धती नक्षत्र को नहीं ढूँढ़ सकता। इसीलिए एक एक कदम करके ले जाया जाता है। इसी प्रकार जिसके भीतर कामना-वासना भरी हुई है, उसे यह भी सर्वत्याग करने को कहा जाय, तो उसकी उन्नति नहीं होगी। इसीलिए कहते हैं – भोग कर रहे हो, तो करो, लेकिन थोड़ा लगाम खींचकर करो। इसी कारण मनुष्य को धीरे धीरे एक एक कदम करके आगे ले जाना होगा। यही शास्त्र का निर्देश है और ठाकुर भी यहाँ पर पहले ईशान को और उसके बाद अधर को यही बात कह रहे हैं। ❑

भविष्य का धर्म

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को समस्त धर्मों में जो कुछ भी सुन्दर और महत्वपूर्ण है, उन सबको समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनन्त क्षेत्र प्रदान करना होगा। अतीत में जो कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा और साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकास-द्वार भी खुला रखना होगा। धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए और धर्म सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। ... ईश्वर सम्बन्धी सभी सिद्धान्त – सगुण, निगुण, अनन्त नैतिक नियम अथवा आदर्श मानवधर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आने चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जाएँगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति सैकड़ों गुना अधिक हो जाएगी। धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी सकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है।

– स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोगों से मुक्ति (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन सैंतीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

'मानस' के उत्तरकाण्ड में कागभुशुण्डि जी ने मानस-रोगों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है, पर अन्त में वे कहते हैं कि मैं कहाँ तक गिनाऊँ, ये रोग असंख्य हैं और सृष्टि में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है, जिसके मन में किसी-न-किसी प्रकार का कोई रोग विद्यमान न हो। अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ लोगों के जीवन में ये रोग निरन्तर सक्रिय हैं, उनका जीवन दुर्गुण-दुर्विचारों से प्रभावित दिखाई देता है और कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जिनके जीवन में साधारणतया स्वस्थता अर्थात् सद्गुण-सद्विचार दिखाई देते हैं; पर ऐसे लोगों के जीवन में भी जब कोई प्रतिकूलता आती है, तो जैसे स्वस्थ व्यक्ति भी यदि कुपथ्य करे, स्वास्थ्य के नियमों का ध्यान न रखे, तो बीमार होने में देर नहीं लगती, वैसे ही श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन में भी यदि ऐसा कुपथ्य होता है, तो उसके अन्तःकरण में जो दुर्गुण निष्क्रिय रूप में छिपे हुए थे, वे सक्रिय हो जाते हैं।

इन दुर्गुणों के सन्दर्भ में एक बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है। गोस्वामीजी ने बड़ा विस्तृत वर्णन किया है कि कामदेव जब भगवान शंकर पर आक्रमण करने के लिए गया, उस समय सृष्टि पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। वे बताते हैं कि भगवान शंकर पर आक्रमण करने के पूर्व काम ने जब अपने प्रभाव का विस्तार किया, तो सारा जगत् उससे आक्रान्त हो गया। उसमें गोस्वामीजी ने ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषों और मुनियों का उल्लेख किया है, जो हमारे आदरणीय और वन्दनीय माने जाते हैं। गोस्वामीजी से पूछा गया कि ये जो महापुरुष हैं, जो महान् योगी, बाल-ब्रह्मचारी हैं अथवा जिन्होंने काम को पूरी तरह से जीत लिया है, उन पर तो काम का प्रभाव नहीं पड़ा होगा? तब गोस्वामी जी ने दो बड़े विचित्र वाक्य कहे। एक तो उन्होंने कहा –

देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे॥ १/८५

जिन तत्त्वज्ञों की दृष्टि सर्वत्र ब्रह्मपरक होनी चाहिए थी, उनकी दृष्टि में भी संसार में नारी-सौन्दर्य दिखाई देने लगा और दूसरा वाक्य उन्होंने कहा – शव में भी काम जाग उठा –

देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा। १/८६/८

मृत्यु का क्रम तो अवश्यम्भावी है, परन्तु पौराणिक मान्यता के अनुसार यदि मरे हुए व्यक्ति पर अमृत छिड़क दिया जाय, तो वह पुनः जीवित हो उठता है; इसी तरह शव में काम जाग उठा। यह चेतावनी मानो सावधान तथा सजग करने के लिए है। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि यदि कोई साधक या श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ व्यक्ति अपने जीवन में यह अनुभव करे कि हमने बुराइयों को न केवल जीत ही लिया है, बल्कि उसे मार भी दिया है, पूरी तरह से समाप्त कर दिया है, तथापि गोस्वामीजी इन पंक्तियों के द्वारा मानो यह चेतावनी देना चाहते हैं कि अपनी समझ से भले ही उस व्यक्ति ने बुराई को मार दिया है, पर जैसा कि पुराणों में वर्णन आता है – दैत्यों के पास भी संजीवनी विद्या है। यह पुराणों की सांकेतिक भाषा है। दुर्गुण, दुर्विचार, बुराइयाँ ही मानो दैत्य हैं।

पुराण में तो एक और भी अद्भुत कथा है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास एक ऐसी अद्भुत विद्या थी, जो देवताओं के पास नहीं थी। जब दैत्यों और देवताओं का युद्ध होता, तब उस युद्ध में जितने दैत्य मारे जाते थे, उन्हें दैत्यगुरु शुक्राचार्य मृतसंजीवनी विद्या के प्रभाव से जीवित कर देते थे। इससे देवताओं के मन में यह भय तथा चिन्ता होने लगी कि दैत्य तो मृत होने के बाद पुनः जीवित हो जाते हैं और हम लोगों की ओर से जो मारे जाते हैं, वे समाप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में जब तक हम लोगों को भी मृतसंजीवनी विद्या का ज्ञान नहीं होगा, तब तक हम दैत्यों को पराजित करने में सफल नहीं होंगे। पुराणों में उसकी एक सांकेतिक कथा दी गई है कि तब देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच ने शुक्राचार्य का शिष्य बनकर उनसे मृतसंजीवनी विद्या को प्राप्त किया।

दूसरा संकेत पुराणों में और रामायण में यह प्राप्त होता है कि देवताओं के मन में यह व्यग्रता उत्पन्न हुई कि हम अमर कैसे हो जावें? अमर होने के लिये अमृत चाहिए। तब अमृत के लिए समुद्र-मन्थन किया गया। समुद्र से अमृत निकला और उस अमृत को भगवान ने देवताओं को पिला दिया, देवता अमर हो गये। तब दैत्यों को परास्त करने में देवता सफल हुए। इसको यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो इसका तात्पर्य केवल पुराणों की गाथा के रूप में नहीं है, बल्कि जीव का भी यही सत्य है। हमारे-आपके जीवन में भी ये दुर्गुण-दुर्विचार दैत्य हैं और इनको बार बार जीवित कर देने

वाले ये शुक्राचार्य कौन हैं? शुक्राचार्य महान् बुद्धिमान् पण्डित हैं। उनकी बुद्धिमत्ता और पाण्डित्य मे रंचमात्र भी सन्देह नहीं है। इसका तात्त्विक अर्थ यह हुआ कि जब हमारे दुर्गुणों को बुद्धि और पाण्डित्य का भी समर्थन मिल जाता है, तो परिणाम यह होता है कि हमारे मृत जैसे दिखाई देनेवाले दुर्गुण फिर से जीवित हो उठते हैं। जब हम अपनी बुद्धि के द्वारा दुर्गुणों का समर्थन करते हैं, तो उसके लिए बढ़िया-से-बढ़िया युक्ति और तर्क ढूँढ़ लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारे जीवन से जो दुर्गुण मिट-से गए हैं, वे फिर से जीवित हो उठते हैं। यह बुद्धि और पाण्डित्य का महान् दुरुपयोग है और यही हमारे-आपके जीवन का शुक्राचार्य है।

सद्गुणों के सामने समस्या यही है कि महा-बुद्धिमान और महापण्डित होने के बाद भी बृहस्पति मृत देवताओं को जीवित करने की विद्या नहीं जानते। इसका सरल-सा तात्पर्य यह है कि बुद्धिमत्ता के द्वारा, युक्ति और तर्क के द्वारा जितनी सरलता से बुराइयों का जीवनदान दिया जा सकता है, सद्गुणों को जीवित करने में बुद्धि उतनी सक्षम प्रतीत नहीं होती। जीवन का यह सत्य पुराणों में बारम्बार सांकेतिक रूप में हमारे सामने आता है। रामायण में भी यही संकेत है। भगवान श्रीराम और रावण के बीच जब युद्ध होता है, तो भगवान श्रीराघवेन्द्र अपने बाणों से रावण के सिर तथा भुजाओं को काट देते हैं। यदि किसी व्यक्ति के सिर और भुजाओं को काट दिया जाय, तो स्वाभाविक ही वह व्यक्ति मर जाता है, पर यहाँ तो बड़ी अद्भुत बात है। रावण मरता नही, बल्कि भगवान राम बार बार उसके सिर और भुजाएँ काटते हैं और बार बार उसके नये सिर तथा भुजाएँ निकल आती हैं। क्या ही अद्भुत चमत्कार है? वहाँ पर भी वही सूत्र दिया गया है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य के पास जैसे मृतसंजीवनी विद्या है, रावण में भी वही चमत्कार है। लीला में भगवान राम जब रावण से लड़ते लड़ते थक जाते हैं, तब वे लौटकर विभीषण की ओर देखते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा भाई सिर काटने पर भी क्यों नहीं मरता; पुनः उसके नये सिर निकल आते हैं, वह पुनः जीवित हो उठता है, इसका कारण क्या है? वहाँ पर भी एक अमृत-कुण्ड का संकेत मिलता है। विभीषण कहते हैं – महाराज, रावण के पास एक ऐसा अमृत-कुण्ड है, जहाँ से उसे पुनः जीवन मिल जाता है –

नाभिकुंड पियूष बस याकें।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें।। ६/१०१/६

चाहे उसे रावण का अमृत-कुण्ड कहें, या शुक्राचार्य की मृतसंजीवनी विद्या, ये सारे प्रसंग सांकेतिक रूप में जीवन के इसी सत्य को प्रगट करते हैं कि अनादि काल से इन दुर्गुण-दुर्विचारों से, इन दैत्यों और रावण से संघर्ष करते हुए भी हम उन्हें पूरी तौर से मिटा देने में समर्थ क्यों नहीं हो पा रहे हैं? क्योंकि बुराइयाँ कहीं-न-कहीं पुनर्जीवन की शक्ति रखती हैं। कामदेव और शंकर जी के प्रसंग में भी गोस्वामी जी – **देखि मुएहुँ मन मनसिज जागा** – कहकर यही संकेत देते हैं कि जिनके जीवन में ऐसा प्रतीत हो रहा था कि काम मर चुका है, वहाँ भी काम जाग उठा, पुनर्जीवित हो उठा। मानस-रोग के सन्दर्भ में जब यह कहा गया **कि हहिं सबके**, तब इसी सत्य की ओर संकेत किया गया कि ये दुर्गुण संसार में महान्-से-महान् व्यक्ति के जीवन में भी विद्यमान हैं। दूसरी ओर हमारे जीवन में सद्गुण-सद्विचार आते हैं, तो ऐसा लगता है कि वे थोड़ी देर के लिए ही आते हैं, वे क्षणभंगुर होते हैं। ये सद्गुण-सद्विचार हमारे जीवन में सक्रिय क्यों नहीं होते, टिकते क्यों नहीं। इसका एक संकेत हमें श्रीमद्भागवत में मिलता है। देवकी के पुत्रों के सन्दर्भ में विचार करके देखें, तो सद्गुणों की क्षणभंगुरता की ओर बड़ा विचित्र संकेत किया गया है। वहाँ पर इसी सत्य की ओर संकेत किया गया है। यहाँ पर कहा गया कि मन के ये रोग सारे संसार में व्याप्त है; बड़े-से-बड़े मुनियों के मन में भी विद्यमान हैं। अब इन रोगों को मिटाने का उपाय क्या है? पहला सूत्र तो यह है कि –

जाने ते छीजहिं कछु पापी। ७/१२२(क)/३

हम बुराई को बुराई के रूप में, रोग को रोग के रूप में जाने लें और दूसरा सूत्र यह है कि जान लेने के बाद तुरन्त उसको मिटाने की दिशा में प्रयत्नशील हो जायँ। रोग को पहचान लेने मात्र से वह दूर नहीं हो जाता। पहली समस्या तो यह है कि यदि किसी व्यक्ति के शरीर में कोई रोग सक्रिय है और उसे उसका पता नहीं है, तो वह रोग उसके शरीर में भयानक रूप धारण करता जायेगा। आधुनिक युग में भी कई ऐसे रोग हैं, जिनके होने पर प्रारम्भ में तो व्यक्ति को उसके होने का पता ही नहीं चलता और जब पता चलता है तो चिकित्सक भी कहते हैं कि न जाने कितने दिनों से यह रोग शरीर में फैलता रहा और अब तो बड़ी भयानक स्थिति में आ गया है। ऐसी स्थिति में चिकित्सा में भी बड़ी कठिनाई आती है। आजकल जो असाध्य रोग हैं, उनके बारे में ऐसा बारम्बार कहा जाता है। यदि आरम्भ में ही व्यक्ति को रोग का ज्ञान हो जाय और वह तत्काल उसकी चिकित्सा के लिए प्रयत्न करे, तभी वह दूर होगा। चिकित्सा-पद्धति बताते हुए कागभुशुण्डि जी कहते हैं –

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा।
जौं एहि भाँति बनै संयोगा।। ७/१२२(क)/५

रोग को जान लेने के बाद भी यदि हम वैद्य के पास न जायँ; या जायँ भी तो वे जो दवा-पथ्य बतायें, उसका सेवन न करें; तो फिर रोग दूर नहीं होगा। मन के रोगों में भी यही क्रम है। परन्तु 'मानस' में कागभुशुण्डि जी उसके साथ एक बात और जोड़ देते हैं और उस पूरी प्रक्रिया को एक सामंजस्य के

रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे सबसे पहले कहते हैं – **राम कृपाँ** – कृपा का सूत्र सबसे पहले दे दिया गया और कृपा के साथ पद्धति – वैद्य, दवा, पथ्य, रोगी का आचरण; अर्थात् भगवान की कृपा हो और उससे ऐसा संयोग बने, तभी स्वस्थ होने की आशा की जा सकती है, नहीं तो कोटि उपाय करने पर भी व्यक्ति के जीवन में स्वस्थ होने की सम्भावना नहीं है।

इसी का संकेत श्रीमद्भागवत में भी है। वहाँ एक सांकेतिक कथा आती है – देवकी का वसुदेव से विवाह होता है, लेकिन विडम्बना यह है कि देवकी का भाई कंस है। मानो उनका यह नाता सृष्टि के ही सत्य को प्रगट कर रहा है। सृष्टि का निर्माण हुआ है गुण और दोष के मिश्रण से। सर्वत्र यही दिखाई देता है कि जहाँ सद्गुण है, वहाँ कोई-न-कोई दुर्गुण भी है। जहाँ अच्छाई है, वहाँ कुछ-न-कुछ बुराई भी अवश्य है। समग्र महाभारत या रामायण का सत्य आप जब चाहें, एक ही व्यक्ति के – स्वयं के जीवन में देख सकते हैं। यदि ऐसा होता कि एक व्यक्ति में केवल दुर्गुण-ही-दुर्गुण होते, सद्गुण जरा भी न होते और एक व्यक्ति में केवल सद्गुण-ही-सद्गुण होते, दुर्गुण बिल्कुल न होते, तो विभाजन सरल हो जाता। लेकिन मिश्रण जटिलता उत्पन्न कर देता है।

देवकी के सन्दर्भ में भी यही सत्य है। देवकी और कंस भाई-बहन हैं। भगवान जिसके गर्भ से जन्म लेंगे, वे है देवकी और जिसको मारेंगे, वह है कंस। दोनों सगे भाई-बहन हैं। इतना ही नहीं, दोनों में बड़ा प्रेम भी है। दोनों के स्नेह का परिचय तब मिला, जब देवकी को रथ पर बिठाया गया। रथ की बागडोर सारथी के हाथ में थी। कंस ने आगे बढ़कर सारथी से कहा – इस रथ को मैं स्वयं हाँकूँगा, तुम नीचे उतरो। कंस ने स्वयं सारथी के स्थान पर बैठकर बागडोर अपने हाथ में ले ली। देवकी और वसुदेव तो यह देखकर गद्गद हो गये। सोचने लगे कि इससे बढ़कर हमारा सम्मान और क्या हो सकता है? मन-ही-मन वे मग्न हो रहे थे कि सहसा आकाशवाणी हुई – अरे मूर्ख कंस, तू जिसके रथ को हाँक रहा है, उसके गर्भ से होनेवाला आठवाँ पुत्र ही तेरा काल है, उसी के हाथों तेरी मृत्यु होगी। साधारण दृष्टि से विचार करें, तो लगता है कि इस आकाशवाणी की क्या जरूरत थी? भगवान देवकी के आठवें गर्भ से आते और कंस को मार देते। कंस को पता ही नहीं चलता। यह जो नई झंझट पैदा कर दी आकाशवाणी ने, यह क्यों? कंस को बताने की क्या आवश्यकता थी? पर याद रखिए, कंस को बताना उतना ही जरूरी नहीं था, जितना देवकी और वसुदेव को बताना।

इसका अभिप्राय क्या है? वही, जो पहला सूत्र है। बुराई को बुराई के रूप में जानना। अगर बुराई को बुद्धि का समर्थन मिलेगा, तो उसकी अमरता अवश्यम्भावी है। यह बुराइयों का समर्थन करनेवाली बुद्धि ही शुक्राचार्य है। यह बुद्धि का समर्थन ही मृतसंजीवनी विद्या है और बुराइयाँ ही दैत्य हैं। इसलिए पहले बुराई को बुराई के रूप में पहचान तो लें। इसीलिए यह आकाशवाणी भगवान का एक अद्भुत कौतुक था। यहीं पर भगवान की कृपा की आवश्यकता है।

जीव के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह कंस को पहचान सके। रामायण में बड़ी सांकेतिक भाषा आती है। हनुमान जी जैसे महान् पात्र भी एक क्षण के लिए बुराई को नहीं पहचान पाए। जब लक्ष्मण जी मूर्छित हो गए और हनुमान जी उनके लिए औषधि लेने गए, तो वहाँ साधु-वेशधारी कालनेमि को नहीं पहचान पाए। तब भगवान की कृपा ने ही उन्हें संकेत किया। लक्ष्मण जी जैसे महान् चरित्र, जो स्वयं भगवान श्रीराम के भाई हैं, लंका के रणांगन में मूर्छित हो गये। उन्हें मूर्छित करनेवाला था मेघनाद। लक्ष्मण जी घनीभूत वैराग्य हैं और मेघनाद काम। मानो ऐसा लगता है कि काम और वैराग्य के इस संघर्ष में वैराग्य पराजित हो गया और काम जीत गया। अब मूर्छित वैराग्य को पुनर्जीवन की जरूरत थी। इस पुनर्जीवन में भी वही क्रम है। लक्ष्मण जी के मूर्छित होने पर मेघनाद ने सोचा कि मैं इसे उठाकर ले चलूँ और रावण के चरणों में डाल दूँ। मेघनाद का यह संकल्प यदि सफल हो जाता, तो लक्ष्मण जी के पुनर्जीवित होने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती। वहाँ पर भी उसी क्रम का वर्णन किया गया है। मेघनाद जैसा अतुलनीय योद्धा भी मूर्छित लक्ष्मण जी को नहीं उठा पाया और उसका संकल्प पूरा नहीं हुआ। इस समय लक्ष्मण जी तो स्वयं मूर्छित हैं, अपने आपको बचाने की स्थिति में नहीं हैं। ऐसी स्थिति में उनकी रक्षा कौन करता है? स्वयं भगवान की कृपा। भगवान उस समय ऐसी विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि –

मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ ॥ ६/५४

मेघनाद जैसा योद्धा भी लक्ष्मण जी को नहीं उठा पाता। उसके बाद चिकित्सा-पद्धति का भी वहाँ पर बड़ा सांकेतिक क्रम है। मानस-रोग के सन्दर्भ में कह लीजिए, चाहे लक्ष्मण जी के मूर्छा के सन्दर्भ में, जब वैराग्य मूर्छित हो जाय, तब उसे जगाने के लिये क्या करना चाहिए? वहाँ पर संकेत किया गया, उत्तम वैद्य चाहिए, उपयुक्त औषधि चाहिए। उसके साथ एक बात और जुड़ी हुई है और वह बड़े महत्व की बात है। वह यह कि वैद्य और दवा तो चाहिए, परन्तु समय पर। समय की सीमा, दवा सूर्योदय से पहले आ जाना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि चिकित्सा में काल का बड़ा महत्व है। सूर्योदय होते ही प्राण चला जायेगा। यह केवल लक्ष्मण जी के जीवन का सत्य नहीं, प्रत्येक रोगी के जीवन का सत्य है। दवा भी

मिले, तो समय की सीमा में मिल जाय, तभी प्राण-रक्षा होगी। यहाँ लक्ष्मण जी की माध्यम से हम सभी के जीवन का सत्य प्रकट किया गया है। प्रभु की कृपा हुई, तो सारे संयोग एकत्र हो गये। हनुमान जी सुषेण जैसा वैद्य ढूँढ़ लाए, उन्होंने उपयुक्त औषधि भी बताई, हनुमान जी उसे ठीक समय पर ले भी आए और लक्ष्मण जी की मूर्छा दूर हो गई।

इस संकट को दूर करने में जैसे एक ओर भगवान की कृपा समर्थ है, तो हनुमान जी भगवत्कृपा से अन्य सब संयोगों को जुटाने में समर्थ हैं। जब बन्दरों से पूछा गया कि सूर्योदय से पहले दवा लाने की क्षमता किसमें है, तो सभी ने अपनी असमर्थता प्रगट की। किसी ने तीन रात, किसी ने दो रात और किसी ने एक रात का समय माँगा। जब हनुमान जी की ओर दृष्टि गई, तो 'हनुमान्नाटक' के अनुसार हनुमान जी ने कहा – खौलते हुए तेल की कड़ाह में सरसों का दाना डाल दिया जाय, तो जितनी देर में वह सरसों फूटेगी, उतनी देर में मैं दवा लेकर आ सकता हूँ। लेकिन फिर वही प्रश्न आया। उतनी शीघ्रता से लेकर आ पाए या नहीं? हनुमान जी के सामर्थ्य में सन्देह नहीं है, यह तो 'कवितावली' में कहा ही गया है। गोस्वामी जी कहते हैं – उनकी गति पवन के समान है। परन्तु गोस्वामीजी को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। तब कहा – गरुड़ के समान हैं। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ, तब पवन और गरुड़ के साथ मन को जोड़ दिया –

मारुतनंदन मारुत को मन को
खगराज को बेगु लजायो ।। कवितावली, ६/५४

मन की गति भी जिसके सामने लज्जित हो जाती है। तब हनुमान जी का ऐसा कहना बिल्कुल ठीक है। सचमुच आध्यात्मिक दृष्टि से हनुमान जी प्रबल वैराग्य हैं –

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन तनय

लक्ष्मण जी प्रवृत्ति वैराग्य हैं और हनुमान जी प्रबल वैराग्य। जब वैराग्य मूर्छित हो गया, तब प्रबल वैराग्य हनुमान जी, जो मन से भी अधिक तीव्र गतिवान हैं, वे क्षण भर में औषधि ला सकते हैं, लेकिन वहाँ भी एक कठिनाई है और उस कठिनाई से हनुमान जी जैसे महावीर भी मुक्त नहीं हो पाते। यह बात हनुमान जी के साथ भी जुड़ी हुई है और संसार के प्रत्येक व्यक्ति के साथ भी। हनुमान जी चाहे जितने भी महान् क्यों न हो, कितने भी शक्तिमान और गतिवान क्यों न हो, गोस्वामी जी कहते हैं कि भ्रम तो उनको भी हो सकता है। यहीं पर आकर प्रत्येक भक्त अनुभव करता है कि भई, हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमारे जीवन में कभी संशय नहीं होगा, भ्रम उत्पन्न नहीं होगा। हनुमान जी दवा लाने को जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने एक आश्रम में एक साधु को बैठे हुए देखा। साधु देखने में बड़े तेजस्वी लग रहे थे। हनुमान जी ने सोचा कि कोई बड़े त्यागी-तपस्वी महात्मा हैं, चलकर प्रणाम करना चाहिए। प्यास भी लगी है, जल भी पी लूँगा। इसका अर्थ क्या हुआ? बुराई में भी इतना चमत्कार है कि वह बड़े-से-बड़े बुद्धिमान व्यक्ति को भी चक्कर में डाल सकता है। यह सिद्धि हनुमान जी में भी है। वे जब चाहे जैसा वेश बना ले सकते हैं, पर वे सदा इस चमत्कार का सदुपयोग करते हैं। यदि विचार करके देखें, तो उनकी तुलना में बुराई में भी उनसे कोई कम चमत्कार नहीं है। बुराई भी वेश बदलने की कला में बड़ा निपुण है। एक क्षण के लिए तो ऐसा हो गया कि हनुमान जी भी धोखा खा गये। यह साधु कौन है? यह है मूर्तिमान दम्भ। दम्भ की सबसे बड़ी विशेषता है –

दंभ कपट मद मान नेहरुआ। ७/१२१(क)/३५

दम्भी व्यक्ति जब अपने आपको समाज में व्यक्त करता है, तो इतने अभिनय और कला के साथ प्रगट करता है कि तब उसको पहचानने की क्षमता बड़े-से-बड़े बुद्धिमान और महाज्ञानी में भी नहीं होती। तब वहाँ केवल वैद्य और दवा से काम नहीं चला, केवल दवा लानेवाले से काम नहीं चला। हनुमान जी ने जब कालनेमि से कहा कि मुझे प्यास लगी है, तो उसने अपना कमण्डलु आगे बढ़ा दिया। उस कमण्डलु को देखकर हनुमान जी ने जो बात कही, बस वही बात हनुमान जी के लिए वरदान बन गई। उन्होंने कहा – महाराज, आपने तो मेरे शरीर को देखे बिना ही मुझे अपना कमण्डलु दे दिया। इतने बड़े शरीर की प्यास भला इस छोटे-से कमण्डलु-भर जल से कैसे बुझेगी? कालनेमि ने कहा – ठीक है, सामने सरोवर है, वहाँ से जल पी आओ और स्नान भी कर आओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। हनुमान जी तो साक्षात् भगवान शंकर के अवतार हैं। सबको दीक्षा देनेवाले, सबके गुरु, त्रिभुवन गुरु शंकर तो स्वयं हनुमान जी हैं, मर आज तो वे भी नहीं पहचान पाए दम्भ को और दीक्षा लेने को तैयार हो गए। तब भगवत्कृपा की बारी आयी। कृपा की सबसे बड़ी पहचान क्या है? कृपा मात्र अनुकूलता ही नहीं, प्रतिकूलता के रूप में भी आती है। वस्तुत: कृपा का सम्बन्ध परिस्थिति से उतना नहीं है, जितना उसके परिणाम से है। हनुमान जी जैसे ही सरोवर में उतरे –

सर पैठत कपि पद गहा। ६/५७

एक मकरी ने उनका पैर पकड़ लिया। जैसे नदी में जल पीने कोई उतरे और उसे मगर पकड़ ले, तो इससे बड़ा संकट क्या होगा? उस बेचारे के तो प्राण गये। लेकिन यहाँ ठीक उल्टी बात हुई। इसमें मानो संकेत यह है कि कालनेमि तो अनुकूल दिखाई दे रहा था और सरोवर में मकरी के द्वारा पैर पकड़ लेने में प्रतिकूलता। हनुमान जी तो बड़े शक्तिशाली थे, वे मकरी को मारने ही वाले थे कि मकरी ने कहा – महाराज, मैंने तो आपका पैर पकड़ा है, आप मुझे मार क्यों रहे हैं? हनुमान जी ने कहा कि यदि कोई प्रणाम करने के लिए पैर पकड़े, तब तो आशीर्वाद देना चाहिए, परन्तु यदि कोई

मारकर खा जाने के लिए पैर पकड़े, तब तो उसे मारना ही चाहिए । मकरी ने कहा – महाराज, मैं भी तो आपसे यही कहना चाहती हूँ । यह सिद्धान्त यहाँ नहीं, वहाँ लगाइए, वह साधु नहीं, कालनेमि है । मैंने आपको सावधान करने हेतु ही आपका पैर पकड़ा । वहाँ आपको दीक्षा देने की जो तैयारी हो रही है, वह भगवान से मिलाने अथवा लक्ष्मण जी को बचाने के लिए नहीं है । उस गुरु के रूप में दिखाई देनेवाले की क्रिया नहीं, उद्देश्य देखिए । मैं तो आपको प्रभु का सन्देश देने आई हूँ, आप सावधान हो जाइए । तब हनुमान जी कालनेमि से बच पाते हैं । यह हनुमान जी की विशेषता नहीं, बल्कि हनुमान जी के साथ जुड़ी हुई भगवत्कृपा की विशेषता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि बड़े-से-बड़े बुद्धिमान व्यक्ति भी जीवन में कई बार बुराइयों को पहचान नहीं पाते । देवकी कंस को पहचान नहीं पा रही थी, वह कंस के व्यवहार से गद्गद हो रही थी । सर्वत्र यही संकेत है । भगवान की अनुकम्पा क्या है? यही कि जब बुराई हमें बुराई के रूप में न दिखाई दे रही हो, तो भगवान हमें पहले ही चेतावनी देकर सावधान कर देते हैं । आकाशवाणी का मुख्य उद्देश्य सामने आ गया । ज्योंही आकाशवाणी हुई – रे मूर्ख कंस, तू जिसके रथ को हाँक रहा है, उसी के गर्भ से जो आठवाँ पुत्र होगा, वही तेरा काल है, उसी के हाथों तेरी मृत्यु होगी । इसे सुनते ही कंस का सच्चा रूप क्षण भर में प्रगट हो गया । वह रथ से कूद पड़ा और देवकी के केश पकड़कर रथ से नीचे खींचने लगा । तलवार खीचकर उसका सिर काटने के लिये उद्यत हुआ । भगवान इस दृश्य को देखकर बड़े प्रसन्न हुए । क्यों? एक तो देवकी-वसुदेव को कंस का नग्न रूप दिखाई दे गया । जितना भी स्वागत-सत्कार था, सब केवल दिखावा था । भीतर तो केवल स्वार्थपरता, अपने जीवन की चिन्ता और असद् वृत्ति को छोड़ कुछ नहीं है । इसे दूसरे अर्थ में मैं यूँ कहता हूँ – कंस देहाभिमान है और देवकी है बुद्धि, जहाँ से अखण्ड ज्ञानघन श्रीकृष्ण प्रगट होते हैं । कंस और देवकी भाई-बहन हैं । इसका अभिप्राय क्या है? गहराई से अगर विचार करके देखें, तो यही दिखाई देगा कि अहंकार और बुद्धि बहुत निकट के सम्बन्धी हैं, भाई-बहन हैं । उसमें विशेषता यह कि कंस देवकी का सम्मान करता है । लेकिन कब तक? जब तक उसके स्वार्थ को उससे खतरा न हो । उसे जैसे ही पता चला कि यही मेरी मृत्यु का कारण बनेगी, मेरे काल को जन्म देगी, तो उस बहन की हत्या करने में भी उसे संकोच नहीं होता ।

इसका तात्पर्य यह है कि अहंकार बुद्धि का सम्मान तो करता है, पर तभी तक, जब तक बुद्धि से उसे कोई खतरा न हो । अगर बुद्धि से कोई ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाय, जो अहंकार को ही नष्ट कर दे, तब अहंकार उस बुद्धि को सह नहीं सकता । बुद्धिमत्ता का दोनों रूप सामने आता है । भगवान की करुणा क्या थी? जब देवकी-वसुदेव के रथ की बागडोर कंस ने अपने हाथ में ले ली, तो भगवान को देवकी-वसुदेव पर दया आ गई कि अरे, भक्त के रथ की बागडोर अहंकार के हाथ में? यह तो मेरे हाथ में होना चाहिए । ये देवकी-वसुदेव तो कंस को पहचान नहीं पा रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं । अब तो कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि अहं बागडोर छोड़ दे । अन्त में वही हुआ । आकाशवाणी सुनकर कंस बागडोर को छोड़कर रथ से कूद पड़ा ।

इसके बाद यह बुद्धि बन्दिनी हो जाती है । कंस देवकी को बंदिनी बना लेता है । वहाँ बन्दीगृह में देवकी के गर्भ से भगवान के जन्म से पहले छह पुत्रों का जन्म होता है और उन छहों पुत्रों को कंस मार डालता है । वहाँ पर भी यही संकेत है । इतनी बुद्धिमती देवकी, इतने ज्ञानवान, विचारवान, इतने बड़े धर्मात्मा वसुदेव, लेकिन उनके छह पुत्रों को कंस ने मार डाला । कौन जीता – दुर्गुण या सद्गुण? यहाँ पर हम यों कह सकते हैं कि हमारे अन्त:करण में भी जैसे देवकी के छह पुत्र हुए और कंस ने मार डाला, उसी प्रकार से ये षड्विचार, जो श्रेष्ठ सद्गुण हैं, वे ही छह पुत्रों के रूप में जन्म लेते हैं, परन्तु इनके साथ विडम्बना यह जुड़ी हुई है कि ये सब मरणधर्मा हैं और अभिमान के सामने ये टिक नहीं पाते । अभिमान क्षण भर में उन्हें नष्ट कर डालता है । तब छह पुत्रों की मृत्यु के बाद फिर वही बात जुड़ जाती है । अब जो भगवान का देवकी के पास आगमन होगा, वह किस साधन से होगा? देवकी कंस के कारागार में बन्दिनी हैं । ऐसी स्थिति में वे कौन-सा साधन करने में, कौन-सा यज्ञ करने में समर्थ हैं? रामायण में तो महाराज दशरथ तथा कौशल्या जी ने मिलकर यज्ञ किया और भगवान श्रीराम को पाया । भगवान को पाने की यह भी एक पद्धति है, पर भागवत में दूसरी पद्धति है । जो राजमहल में है, उसे स्वतंत्रता है कि वह चाहे जितना दान करे, यज्ञ करे, पुण्य करे, परन्तु कारागार में? कारागार का अर्थ है परतंत्रता ।

जब हमारे जीवन में दुर्गुणों और अभिमान के कारण इतनी परतंत्रता आ जाय कि हम बुद्धि से जिसे सही समझते हैं, उसे भी क्रियान्वित न कर सकें और हमारे जीवन में जो अच्छे विचार आयें, वे टिक ही न सके, उनका विनाश हो जाय; तब ऐसी स्थिति में व्यक्ति के अन्त:करण में प्रार्थना की वृत्ति आती है कि अब इस कारागार में यदि भगवान आएँगे, तो अपनी कृपा से ही आएँगे । इसका अभिप्राय यह है कि जब व्यक्ति को यह प्रतीत हो कि अपनी साधना से हम भले ही सद्गुणों को जन्म दे दें, पर उन्हें जीवित रखने में समर्थ नहीं हैं । इसलिए हम भगवान से प्रार्थना करते हैं कि अब तो आप अपनी कृपा से ही आवें और तब भगवान कृपापूर्वक आते हैं । ❖(क्रमश:)❖

ईर्ष्या की प्रवृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य के अन्तःकरण में एक ऐसी भी प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वह दूसरों की सफलता देखकर अपने भीतर जलन का अनुभव करता है। इसे 'ईर्ष्या' कहकर पुकारा गया है। यह एक मानसिक रोग है, जो मनुष्य के मन को सन्तप्त करता रहता है। शरीर को सन्तप्त करनेवाला रोग तो उपचार से ठीक हो जाता है, पर ईर्ष्या का उपचार सहज नहीं है। शरीर में ताप पैदा करनेवाले रोग को रोगी अनुभव करता है और फलस्वरूप वह अपने को अस्वस्थ समझ उसके उपचार के लिए स्वय चेष्टाशील होता है। पर ईर्ष्या ऐसा रोग है कि रोगी अपने को अस्वस्थ ही अनुभव नहीं करता, फलतः उसे दूर करने की चेष्टा का उसमें सर्वथा अभाव होता है। यही उस रोग को विकट बना देता है। रोग को दूर करने के लिये दो बातें आवश्यक होती हैं - एक तो यह अनुभव करना कि 'मैं रोगी हूँ' और दूसरी, उसे दूर करने के लिए चेष्टाशील होना। ईर्ष्या-रोग से ग्रसित व्यक्ति में इन दोनों बातों का अभाव होता है।

ईर्ष्यालु व्यक्ति जिसके प्रति ईर्ष्या करता है, उसके गुण भी उसे दुर्गुण प्रतीत होते हैं। उसकी अच्छाई भी उसे बुराई के रूप में भासित होती है। उसकी सफलता उसके लिए असहनीय हो जाती है। जहाँ लोग किसी व्यक्ति के गुण गाते हैं, वहाँ ईर्ष्यालु उसके भीतर कालिमा ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। 'मानस' में गोस्वामी तुलसीदास जी ने सिंहिका को ईर्ष्या के रूप में संकेतित किया है। श्री हनुमान जब समुद्र-लघन कर रहे हैं, तब सिंहिका दूसरी बाधा के रूप में उनके सामने आती है। उसका वर्णन करते हुए गोस्वामी जी करते हैं -

> **निसिचर एक सिंधु महुँ रहई।**
> **करि माया नभु के खग गहई॥**
> **जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं।**
> **जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥**
> **गहई छाहँ सक सो न उड़ाई।**
> **एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥**
> **सोई छल हनूमान कहँ कीन्हा।**
> **तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा॥**
> **ताहि मारि मारुतसुत बीरा।**
> **बारिधि पार गयउ मतिधीरा॥**

– सिंहिका, ऊपर उड़कर जानेवालों की छाया पकड़कर नीचे खींचती है और उनका भक्षण करती है। यह सांकेतिक भाषा है। जो भी ऊपर उड़ते हैं, जिनकी ख्याति होती है, जो लोगों की दृष्टि में वरेण्य होते हैं, ईर्ष्यालु व्यक्ति केवल उनमें छाया देखने की चेष्टा करता है, उनमें कालिमा ढूँढ़ता है और उस कालिमा को पकड़कर उन्हें नीचे गिराकर उन्हें खाने के सुख का अनुभव करता है। हनुमान जी को लगा कि उनकी गति रुक रही है। वे तो भक्तिस्वरूपा सीताजी की प्राप्ति के लिए अहकार-समुद्र का लघन कर रहे थे। उन्हें लगता है कि कोई उन्हें आगे बढ़ने से रोक रहा है। वे तो साधक हैं, अपने भीतर झाँकते हैं। उन्हें सिंहिका रूप ईर्ष्या-वृत्ति दिखाई पड़ती है। वे निर्भय हो उसे नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार ईर्ष्या की बाधा को दूर करते हैं।

ईर्ष्या और द्वेष के बीच चोली-दामन का सम्बन्ध है। दोनों में थोड़ा अन्तर है। ईर्ष्यालु व्यक्ति स्वयं जलता है, पर द्वेषी खुद तो जलता ही है, साथ ही जिसके प्रति द्वेष करता है, उसे भी जलाता है। 'द्वेष' शब्द का अर्थ ही है – जो दोनों ओर जलाए।

ईर्ष्या की प्रकृति बड़ी विचित्र है। सामान्यतः किसी को दुखी देखकर हमें भी कष्ट का अनुभव होता है और किसी को सुखी देखकर हम भी प्रसन्नता का अनुभव करते है। पर ईर्ष्यालु के साथ ठीक इसका विपरीत होता है। वह किसी को दुःख-कष्ट में पड़ा देखकर सुख का अनुभव करता है तथा किसी को सुखी देखकर दुःख की ज्वाला में जलता है।

यह ईर्ष्या की मात्रा हम भारतवासियों में अधिक है। स्वामी विवेकानन्द एक कह ही उठे थे – ''ईर्ष्या हमारे दाससुलभ राष्ट्रीय चरित्र का धब्बा है। औरों का तो क्या कहना, स्वय सर्वशक्तिमान ईश्वर भी इस ईर्ष्या के कारण हमारा कुछ भला नहीं कर सकते।''

ईर्ष्या को दूर करने के लिए पहले हमें यह समझना होगा कि यह एक प्राणघाती रोग है। दूसरा कदम यह होगा कि जिस व्यक्ति के प्रति हम ईर्ष्यालु हैं, उसके गुणों को बारम्बार अपने मन में बलपूर्वक उठाना होगा। तीसरा कदम यह होगा कि रोग की विभीषिका को समझकर हम उसके प्रति निर्मम हो जायँ। केवल इस प्रकार ही ईर्ष्या के परिणामों से बचा जा सकता है।

❖ ❖ ❖

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मन्मथनाथ गांगुली

(धन्य थे वे लोग, जो स्वामीजी के काल में जन्मे तथा उनका सामीप्य पाया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओ तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत लेख संघ के अंग्रेजी तथा बँगला पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने के बाद 'Reminiscences of Swami Vivekananda' तथा 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थों में संकलित हुए हैं, जहाँ से हम इनका अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

उस दिन अपराह्न में दस-बारह युवक स्वामीजी के दर्शनार्थ आकर (मठ भवन के) ऊपर के बरामदे में प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वामीजी के कमरे से बाहर आने पर उन लोगों ने उन्हें घेर लिया और स्वामीजी भी सहज भाव से उनके साथ घुल-मिलकर बातें करने लगे। किसी के कन्धे पर हाथ रखकर, तो किसी पीठ थपथपाते हुए वे इतने प्रसन्न तथा प्रफुल्ल भाव के साथ उन लोगों से बातें करने लगे मानो वे भी उन्हीं में से एक हों। उनकी जेब में एक सोने की घड़ी थी और गले में उसी से जुड़ी हुई शुद्ध सोने की चेन थी। उन दिनों सोने की घड़ी और उसकी चेन पहनने की प्रथा थी। परन्तु स्वामीजी को इसके पहले कभी मैंने वह घड़ी तथा चेन धारण किये नहीं देखा था। उनके सुन्दर वर्ण के साथ वह सोने का चेन बड़ा ही शोभित हो रहा था। एक युवक उस चेन को अपनी अँगुलियों से स्पर्श करता हुआ बोला, "यह चेन तो बड़ा सुन्दर है!" स्वामीजी ने एक बार निगाह उठाकर उसकी ओर देखा और तत्काल ही वह घड़ी तथा चेन खोलकर बोले, "ले, यह तुझी को दे देता हूँ। तुझे पसन्द है तो यह तेरा ही हुआ। इसे तू ही रख ले।" लड़का तो हक्का-बक्का रह गया। घड़ी और उसके चेन के बारे में वह क्या करे और क्या न करे – उस विषय में वह कुछ सोच ही नहीं पा रहा था। अगले ही पल स्वामीजी बोले, "इसे मै तुझे देता हूँ, परन्तु बेटा, इसे बेचना मत; स्मृतिचिह्न के रूप में अपने पास ही रखना।"

सुना है कि स्वामीजी के विदेश में रहते समय किसी विशिष्ट महिला ने यह घड़ी उन्हें उपहार के रूप में दी थी। हमारी समझ में नही आया कि इतनी मूल्यवान वस्तु को उन्होंने इतने सहज भाव से एक अज्ञात व्यक्ति को क्यों दे दिया! परन्तु उनका यह त्याग देखकर निश्चित रूप से मेरे मन की सारी शंकाएँ दूर हो गयीं। स्वामीजी ने एक बार कहा था, "जो कुछ तुम्हें प्राप्त है, उसे छोड़ना ही त्याग है। किसी के पास सब कुछ है, तथापि यदि वह उन सबके प्रति उदासीन है, वही सच्चा विरागी है। जो स्वयं ही भिखारी है; वह भला क्या त्याग कर सकता है?"

हम लोगों की त्याग के विषय में जो धारणा है, स्वामीजी उसके बहुत ऊपर थे। उनका मन एक अत्यन्त सूक्ष्म भावग्राही यंत्र के समान था; अत: उनकी किसी भी वस्तु पर किसी अन्य के मन की छाया तक पड़ने पर भी उसे रख पाना उनके लिए बड़ा कष्टकर था। युवक के मन में जो छिपा हुआ भाव था, वह लोभ भी हो सकता है या ऐसा कटाक्ष का भाव भी हो सकता है कि संन्यासी के पास सोने की वस्तु! स्वामीजी उसके भाव को समझकर सहज ही उसे घड़ी का दान करके निश्चिन्त हो गये। कौन जाने इस सोने की घड़ी के साथ साथ उन्होंने युवक के मनोजगत् को और भी कौन-सी सम्पदा दी होगी!

बहुत-से शिक्षित लोगों के मन में स्वामीजी से मिलने तथा उनकी बातें सुनने की इच्छा होती थी, इस कारण वे लोग बड़े दिन की छुट्टियों में दूर दूर से भी आया करते थे। सुबह के नौ बजे थे। आगरा से कुछ बंगाली सज्जन आए हुए थे, जिनमें से कोई कोई प्राध्यापक थे। मठ के प्रांगण में कुछ साधारण बेंचें पड़ी हुई थीं। वे लोग उन्हीं पर बैठे और उनके समीप ही एक कुर्सी पर स्वामीजी विराजमान थे। प्राध्यापकों ने उनसे अनेक प्रश्न किये और स्वामीजी भी हँसते हुए उनका समुचित उत्तर दे रहे थे। सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्व से लेकर राजनीति, समाजनीति तथा अर्थनीति आदि कोई भी विषय बाकी नहीं रहा। आखिरकार आगन्तुक लोग उठ खड़े हुए। उनके हाव-भाव से ऐसा लग रहा था कि वे लोग बड़े प्रसन्न हुए है।

उसी समय एक चीज की ओर मेरा ध्यान गया। भिन्न भिन्न लोग एक साथ ही जो विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रश्नों की वर्षा कर रहे थे, स्वामीजी ने उन सबकी एक ऐसी मीमांसा की कि उसके सूत्र से सभी चीजों के बीच सामंजस्य देखा जा सकता था। इस विशेष दृष्टिकोण के कारण सभी स्वामीजी की बातों से परम सन्तुष्ट हुए। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव तो निश्चित रूप से था, परन्तु उनकी बातें भी ऐसी युक्तियों पर आधारित रहती थीं कि किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को उन्हें निष्कर्ष के रूप में स्वीकार करने में कोई असुविधा नहीं होती थी।

उस समय लगभग बारह बज रहे थे। स्वामीजी ने सहसा मुझसे पूछा, "साधु अमूल्य इलाहाबाद में रहता है। तुम उसे पहचानते हो?" मैने कहा, "हाँ।" उन्होंने फिर पूछा, "उसके साथ तुम्हारी बातचीत हुई है क्या? वह कैसा है? उसके बारे में सारी बातें मुझे बताओ।" मैंने संक्षेप में उन्हें सब कुछ बताया। साधु अमूल्य ने कभी प्लेग तथा हैजे के रोगियों की खूब सेवा की थी। उन दिनों वे गेरुआ नहीं पहनते थे। लोगों की उनके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। बाद में वे गँजेड़ियों की एक

टोली के 'गुरुजी' बन गये और गेरुआ पहनने लगे। क्रमशः वे अधःपतन की चरम सीमा तक पहुँच गये और उनका आचरण काफी-कुछ अघोरी सम्प्रदाय के जैसा हो गया था। वे वस्त्र को छोड़कर नागाओं की भाँति दिगम्बर रहने लगे थे और स्वयं को 'सोऽहम्' सम्प्रदाय का बताया करते थे।

एक बार कुम्भ मेले में मैंने साधु अमूल्य को देखा था। पर उन्हें घेरे हुए उनके भक्तों के अद्भुत आचरण देखकर मैं ठगा-सा रह गया था। कभी मैं उनके सेवा भाव से प्रेरित होकर उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ हुआ था, पर बाद में उनका चरम पतन देखकर मैंने उनसे अपना सारा सम्पर्क तोड़ लिया था।

स्वामीजी यह सब सुनकर अत्यन्त दुखी हुए और थोड़ी देर चुप रहे। उसके बाद वे कहने लगे, "Ah! a great soul! a great soul! – अहा! महापुरुष! महापुरुष!"

साधु अमूल्य के ऐसे अधःपतन के बाद भी स्वामीजी ने केवल उनके निर्भीक हृदय तथा सेवागत प्राण को ही देखा था। उनके दोषों की बात एक बार भी उनके मन में नहीं आई। उन्होंने मुझसे कहा, "उसका यह जीवन तो व्यर्थ चला गया, परन्तु अगले जन्म में वह मुक्त हो जाएगा।" बातचीत के दौरान स्वामीजी ने बताया कि अमूल्य उनके साथ कॉलेज में पढ़ता था। छात्र-जीवन में वह एक अच्छा लड़का था, मेधावी तथा बुद्धिमान था। तब भी उसके हृदय में उदारता तथा ज्ञानमार्ग के प्रति प्रबल आकर्षण था। उसे गुरु बनाने में विश्वास न था। उसके साधना-जीवन में केवल पुस्तकें तथा उसके अपने संस्कार ही प्रधान आलम्बन थे।

लगता है कि अमूल्य अपने कॉलेज-जीवन में नरेन्द्रनाथ से विशेष प्रभावित हुए थे। बाद के दिनों में वे सम्भवतः कुछ कुछ अघोरी तथा नागा सम्प्रदायों के प्रभाव में आ गये थे। फिर उनके भक्त तथा प्रशंसक लोग विशेष स्वच्छ संस्कारों के नहीं थे। इस कारण उनके लिए वेदान्त के 'सोऽहम्' भाव के साथ निकृष्ट साधना-पद्धतियों का सम्मिश्रण होने में कोई आश्चर्य की बात न थी।

अस्तु। स्वामीजी को उनके लिए काफी विचलित देखकर मैं चुपचाप बैठा रहा। स्वामीजी बोले, "मन्मथ, इस बार तुम इलाहाबाद लौटकर अमूल्य से भेंट करना और कहना कि मैंने ही तुम्हें उसके पास भेजा है। उससे पूछना कि उसे क्या चाहिए। जो कुछ भी कहे, वह तुम उसके लिए ला देना।"

इलाहाबाद लौटते ही मैं 'गुरुजी' के पास गया। मुझे उनसे मिले काफी अर्सा हो चुका था। पहुँचते ही मैं बोला, "महाराज, स्वामीजी के कहने से ही मैं आपके पास आया हूँ; अन्यथा नहीं आता। आपको क्या क्या चाहिए, मुझे बताइये; मैं वह सब ला दूँगा। स्वामीजी ने मुझे ऐसा ही आदेश दिया है।"

मेरी बातों में निहित कटाक्ष पर ध्यान न देते हुए अमूल्य ने उत्फुल्ल स्वर में कहा, "आँ! तुम्हें स्वामीजी ने भेजा है? स्वामीजी! उन्होंने मेरे बारे में क्या कहा?" मेरे सब कुछ यथावत् विस्तारपूर्वक बताते समय वे चुपचाप बैठे रहे और उनके दोनो नेत्रों से अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। भावावेग का थोड़ा संवरण करके वे बोले, "तू मेरे लिए चार-पाँच सेर गाय का घी और थोड़े-से फल ला देना।" कुछ दिनों के भीतर ही मैंने एक पात्र में गाय का घी जुटा लिया। उत्तरी भारत में भैंस का घी काफी मिलता है, परन्तु गाय का घी दुष्प्राप्य है। कई सेर गाय का घी और कुछ फल ले जाकर मैं उन्हें दे आया। ये साधारण-सी चीजें थीं, परन्तु अमूल्य साधु उन्हें पाकर विशेष प्रसन्न हुए। यही मेरा उनके पास अन्तिम बार जाना था। कुछ दिन मैंने उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। बाद में पता चला कि उनका देहान्त हो गया है।

साधु अमूल्य ने स्वामीजी की बातें सुनकर अदृश्य रूप से उनकी कृपा का अनुभव किया था। किशोरावस्था में जो वेदान्त-दर्शन उनका लक्ष्य-वस्तु था, स्वामीजी की कृपा से अवश्य ही उसका आभास उन्हें मिला होगा। लगता है कि बन्धु-भाव से स्मरण करके भी स्वामीजी ने उन पर गुरुकृपा की थी। अपने अन्तिम दिनों में अमूल्य ने प्रायोपवेशन का संकल्प लेने के बाद गंगातट पर जाकर माँ भागीरथी की गोद में अपने पाप-पुण्य के संस्कारों को विसर्जित करके साधना के जगत् में प्रवेश किया था। कौन जाने कि वे पुनः जन्म लेकर ब्रह्मप्राप्ति के लिए फिर कहीं तपस्या कर रहे हों!

स्वामीजी ने कहा था, "साधु अमूल्य ने गुरु नहीं बनाया था, इसीलिए ऐसा हुआ। साधु के पतन की सम्भावना होने पर उसके गुरु ही उसे असन्तुलित होने से बचाते हैं; गुरु ही उसकी रक्षा करते हैं।"

मैंने पूछा, "महाराज, यदि मेरा पतन हो, तो क्या आप मेरी रक्षा करेंगे?

स्वामीजी गम्भीर स्वर में बोले, "अवश्य करूँगा। तेरा पतन हो ही नहीं सकता। और यदि तू नर्क में भी चला जाय, तो तेरी चुटिया पकड़कर तुझे खींच लाऊँगा।"

स्वामीजी का स्वभाव अत्यन्त गम्भीर था। ऐसा व्यक्तित्व था कि देखते ही सम्मान का भाव जागता था। परन्तु उसी के साथ बहुधा उनके व्यक्तित्व में एक और विशेषता छिपी रहती थी। वे मानो एक चंचल शिशु थे, जिन्हें मान-अपमान का बोध नहीं था। उनके लिए दुनिया का सब कुछ खेल मात्र था! जिन लोगों ने उनका यह निरभिमान शिशुरूप देखा है, वे ही समझ सकते हैं कि 'बाल गोपाल' भाव क्या है।

१८९८ ई. के बाद से स्वामीजी का स्वास्थ्य क्रमशः बिगड़ता गया। एक वर्ष के भीतर ही उनके गाल पिचक कर ऐसे हो गये कि देखने से कष्ट होता था। तब मधुमेह रोग की

अच्छी चिकित्सा भी उपलब्ध नहीं थी। स्वामीजी का रोग बड़ा भयंकर हो उठा। इन्हीं दिनों उनके लिए बकरी के ताजे दूध की व्यवस्था की गयी थी। मठ में ही एक बकरी पाली गयी थी। एक दिन उनके मन में तरंग उठी कि वे स्वयं ही दूध दूहेंगे। पाँव नंगे थे, वस्त्र घुटने के ऊपर तक उठा हुआ, लोटा दोनों घुटनों के बीच में फँसाकर वे ऐसे ढंग से दूध दूह रहे थे मानो वे इस कार्य में दीर्घ काल से अभ्यस्त रहे हों। ठीक उसी समय एक युवक आ पहुँचा। वह विश्वविख्यात वक्ता स्वामी विवेकानन्द को देखने आया था। उन्हें इस कार्य में लगे देखकर वह तो भौचक्का रह गया। थोड़ी देर बाद स्वामीजी उस लोटे को रखकर चले गये। तब वह युवक आश्चर्य व्यक्त करते हुए अपने साथी से बोला, "ये ही विवेकानन्द हैं!"

पाश्चात्य देशों से लौटने के बाद स्वामीजी चुरुट पीया करते थे। प्रारम्भ में थोड़ा ज्यादा ही पीते थे, बाद में उन्होंने कम कर दिया था। हुक्के में चिलम लगाकर तम्बाकू पीना ही उनका पुरानी आदत थी। कभी कभी ऐसा भी होता कि तम्बाकू जला जा रहा है, बीच में कभी वे आदत के अनुसार हल्का-सा खींचते, परन्तु उनका मन अन्यमनस्क रहता। कभी कभी तम्बाकू पूरा ही जल जाता। तब वे सेवक ब्रह्मचारी किसी की बुलाक़र कहते, "तम्बाकू बदल दे।"

राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) भी तम्बाकू पीना पसन्द करते थे। परन्तु उनका तम्बाकू-सेवन देखकर ऐसा लगता कि वे खूब आराम से बैठकर कश ले रहे हैं।

उनके सभी कार्यों में एक तरह का राजकीय भाव था। इसी कारण स्वामीजी उन्हें कहा करते, 'राजा' और कभी कहते 'महाराजा'। प्राय: ही देखने में आता कि तम्बाकू पीते पीते महाराज का मन किसी दूसरे ही राज्य में पहुँच गया है। पुकारने पर कभी कहते 'हूँ' और कभी कोई प्रतिक्रिया नहीं मिलती। लगता है कि उनका मन सहज ही अन्तर्मुखी रहा करता था। थोड़ी देर प्रतीक्षा करने पर वे पुन: स्वयं ही बातें करने लगते थे।

परन्तु स्वामीजी में सामान्यत: ऐसा नहीं दिखाई देता था। लगता था कि उनकी स्वाभाविक दृष्टि सम्पूर्ण बहिर्जगत् को देख रही है। परन्तु मानो एक तरह के अनासक्त भाव से सब कुछ देखा जा रहा है – ऊपर ऊपर से। मानो सब आनन्दमय देखते हुए उनके नेत्रों से आनन्द छलका पड़ा जा रहा हो। नेत्रों की दृष्टि से भी बीच बीच में मानो विद्युत की-सी झलक फूट पड़ती थी। जो भी उस दृष्टि को देखता, उसी के मन में एक तरह के भय या सम्मान का भाव जाग उठता। मन अपने आप ही कह उठता – सावधान, ये परम शक्तिमान व्यक्ति हैं।

परन्तु ये ही व्यक्ति जब वे मजदूरों के साथ बैठकर बातें करते और उन्हीं के समान हुक्के से कटी हुई तम्बाकू पीते और हाथ में चिलम पकड़े लम्बा-सा क़श लेकर मुख से धुँआ निकालते, उस समय उन्हें देखकर भला कौन कह सकता था कि वे भी उन्हीं में से एक नहीं हैं! उस समय उनके मुख की हँसी तथा बातें सुनकर लगता कि वे भी उन्हीं के जीवन के साथ एकाकार हो गये हैं। सुनने में आता है कि परिव्राजक जीवन में भी वे कभी सड़क के किनारे किसी से माँगकर तम्बाकू पी लेते थे; फिर दूसरी ओर वे लगातार तीन दिन निराहार भी रहे, परन्तु किसी से माँगकर कुछ खाया नहीं।

मैंने उनके मुख से सुना है – परिव्राजक काल में दो-एक दिन उपवास को वे नजरन्दाज ही कर देते थे, परन्तु कभी उन्हें लगातार तीन दिनों से ज्यादा उपवास नहीं करना पड़ा था। उसी समय एक बार वे यह सोचकर वन में बैठे थे कि 'बाघ मुझे खा डाले'। परन्तु उसके लौट जाने पर उन्होंने दुखी स्वर में कहा था – "बाघ ने भी नहीं खाया।"

एक बार स्वामीजी ट्रेन के द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में बैठकर कहीं जा रहे थे। इसका कारण यह था कि उन्हें बार बार शौचालय जाना पड़ता था और फिर उन्हें भीड़ भी सहन नहीं होती थी। उनका स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ था, अत: उन्हें ट्रेन में भी उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी। सेवक ब्रह्मचारी दूसरे डिब्बे में थे; वे कभी इन्टर क्लास में तो कभी तीसरे दर्जे में यात्रा किया करते थे। स्टेशन पर ट्रेन के रुकने पर वे आकर खोज-खबर ले जाते। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण उस बार स्वामीजी अधिकांश समय बर्थ पर ही सोये रहे। उस डिब्बे में केवल एक ही और यात्री थे। वे बंगाली होकर भी साहबी भावोंवाले डाक विभाग के एक बड़े अफसर थे। स्वामीजी ने स्वत:प्रवृत्त होकर कोई बात नहीं की। अंग्रेजी प्रथा में किसी के साथ परिचय न कराये जाने तक बातें नही की जाती, इसीलिए उन बंगाली साहब ने भी स्वामीजी के साथ कई घण्टे बिताने के बावजूद उनके साथ कोई बातचीत नहीं की। गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर वे ट्रेन से उतर गये।

जीवन में केवल एक ही बार उसी समय उन्होंने स्वामीजी को देखा था। बाद में वे स्वामीजी की पुस्तकें आदि पढ़कर उनकी ओर आकृष्ट हुए। वे कहा करते थे, "उस समय स्वामीजी को देखकर मैं बिल्कुल भी नहीं समझ सका था कि वे इतने बड़े आदमी हैं। परन्तु उनके दोनों नेत्रों को देखने के बाद मैं बारम्बार उसी ओर देखता रहा। मन में आया कि – हाँ, ये खूब शक्तिमान व्यक्ति हैं! जिस आध्यात्मिक सम्पदा के पास मैंने इतना समय बिताया, यह मैं उस समय बिल्कुल भी समझ नहीं सका था।"

स्वामीजी जब अमेरिका में थे, उस समय बंगाल के समस्त शिक्षित व्यक्तियों के मन में उनके प्रति श्रद्धा तथा सम्मान का भाव जाग्रत हो उठा था। भारत का कोई व्यक्ति विदेशियों की

श्रद्धा का केन्द्र बन सका है – यही उनकी स्वामीजी के प्रति श्रद्धा का प्रधान कारण था। कुछ लोगों ने उनकी कुछ पुस्तकें भी पढ़ी थी। वे लोग भी उनके नवीन भाव तथा भाषा को देखकर विस्मित रह जाते। उनके समान तेजस्वी भाषा इसके पहले कभी किसी के सुनने में नहीं आयी थी।

परन्तु स्वामीजी जब विदेश से लौट आये, तक भारत में विराट् हलचल हुआ। सभी लोग आनन्द से विभोर होकर सोच ही नही पा रहे थे कि क्या करें। कलकत्ते में युवकों ने उनकी गाड़ी के घोड़े खोलकर उसे रथ के समान खींचा था। उस घटना को मैंने अपनी आँखों से नहीं देखा। परन्तु बंगाल के बाहर भी लोगों में सर्वत्र इस हलचल की तरंगें उठी थीं।

स्वामीजी तब भी भारत लौटे न थे। रामबाबू (श्री रामचन्द्र दत्त) खोल-करताल लिए बहुत लोगों के साथ 'रामकृष्ण'-नाम-संकीर्तन निकाला करते थे। वह कीर्तन मैंने देखा है। रामबाबू स्वयं भाव से मतवाले हो उठते थे; उच्च स्वर में 'जय रामकृष्ण, जय रामकृष्ण' कहकर उछलते थे। देखकर लगता कि वे अपने भीतर का भाव दबाकर नहीं रख पा रहे हैं। वे व्याख्यान भी बड़ा सुन्दर देते थे। बहुत-से लोग उनके भाषण सुनने जाया करते थे, मैं भी गया हूँ। उनका मुख्य वक्तव्य था – श्रीरामकृष्ण इस युग के अवतार होकर आये हैं। यदि सम्भव हुआ तो यह आनन्द-संवाद वे प्रत्येक घर में जाकर दे आना चाहते थे।

सुना है कि विदेश में रहते समय ही स्वामीजी को इसकी सूचना मिल गयी थी और उन्होंने रामबाबू को इस प्रकार सार्वजनिक रूप से प्रचार करने से मना किया। परन्तु रामबाबू को मैंने उन दिनों जिस भाव में देखा है, उससे लगता है कि उन्हें तब भावोन्माद हो गया था। लगता है कि निषेध मानकर चलने की उस समय उनकी अवस्था ही नहीं थी। रामबाबू के प्रति मेरी बड़ी श्रद्धा थी। उनके मुख से ठाकुर की बातें सुनकर ही मुझे प्रारम्भिक प्रेरणा मिली थी; और मठ में जिस प्रकार ठाकुर का चित्र रखकर पूजा हुआ करती थी, उसी प्रकार इलाहाबाद में एक मकान किराये पर लेकर हमने भी आरम्भ किया, जो क्रमश: ब्रह्मवादिन् क्लब में रूपान्तरित हुआ।

उन दिनों सभी लोग मानने लगे थे कि श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव एक उच्चकोटि के साधक तथा सिद्ध महापुरुष थे। लोग यह भी मानते थे कि स्वामीजी स्वयं भी एक अति शक्तिमान महापुरुष हैं। परन्तु लोग 'रामकृष्ण-अवतार' की बात ग्रहण करने को प्रस्तुत न थे। विदेशों से लौटकर भी स्वामीजी ने ठाकुर के विषय में अधिक प्रचार नहीं किया। इस विषय में उनके गुरुभाइयों ने उनसे शिकायत भी की थी। ठाकुर को वे जिस परम श्रद्धा तथा प्रेम की दृष्टि से देखते थे, इस विषय में वे अपने ही मुख से कह गये हैं, "आखिरकार क्या शिव की मूर्ति गढ़ने के प्रयास में बन्दर की मूर्ति गढ़ूँगा?"

इसीलिए वे कुछ लोगों का जीवन गढ़ देना चाहते थे, ताकि वे लोग उनकी अनुपस्थिति में भी उनका कार्य चला सकें और भविष्य के लिए अन्य लोगों का भी जीवन गढ़ सकें। इनमें सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द) कालीकृष्ण महाराज (स्वामी विरजानन्द) आदि प्रारम्भ से ही सम्मिलित हो गये थे। सुधीर महाराज आयु में थोड़े बड़े थे। उन लोगों का सदा से ही मेरे प्रति बड़ा स्नेह था। उनके मुख से सुना है कि स्वामीजी ध्यान-धारणा तथा ब्रह्मचर्य के ऊपर विशेष जोर दिया करते थे। बाहर कर्म के ऊपर बल देने पर भी अपने अन्तरंगों से आध्यात्मिक जीवन की श्रेष्ठता के विषय में बोलते। ध्यान-धारणा, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान – ये उनके संन्यासी शिष्यों में विशेष रूप से दिखाई देते हैं।

गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) की प्रेरणा से सेवाव्रतियों की एक अन्य टोली गढ़ उठी थी। 'दूसरों के लिए प्राणों में रुदन चाहिए' – इसी भाव से सेवा करनी होगी। यही गुप्त महाराज की शिक्षा थी। जिन लोगों में ऐसा भाव था, उनके प्रति स्वामीजी तथा अन्य संन्यासी-महाराजों का विशेष प्रेम तथा अनुग्रह था। जिन लोगों ने यह सेवाव्रत स्वीकार किया था, उन्होंने इसे स्वामीजी के ही जीवन-आदर्श के रूप में ग्रहण किया था। परन्तु स्वामीजी में आध्यात्मिक भाव की जो गहनता थी, बहुत कम लोगों को उसका परिचय पाने का सौभाग्य मिला था। उनके समान विराट् व्यक्तित्व से सम्पन्न व्यक्ति ने भी स्वयं को इस विषय में अत्यन्त गुप्त रखा था। इसीलिए सर्व-साधारण के समक्ष उनका आध्यात्मिक स्वरूप अधिक प्रकट नहीं था।

स्वामीजी अपनी व्याख्यान-कुशलता और शक्तिमत्ता के लिए ही सर्वजन-पूज्य थे, परन्तु उनके स्वदेश-प्रेम ने सबका हृदय जीत लिया था। मुझे नहीं लगता कि दुनिया ने उनके समान किसी अन्य महाप्राण को देखा हो। उनके छोटे भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त ने उनके इस स्वदेश-प्रेम को ही सर्वोच्च स्थान दिया है। दूसरी ओर महेन्द्रनाथ दत्त उनकी आध्यात्मिक गहनता और शक्ति पर ज्यादा जोर देते थे। भारतवर्ष में आकर उन्होंने स्वयं को प्रच्छन्न कर रखा था। उनके एक गुरुभाई संन्यासी ने मुझसे कहा थे, "तुम लोगों के स्वामीजी जो कुछ कर गये, उसे समझने में एक हजार वर्ष लगेंगे।" वस्तुत: स्वामीजी में बहुत-सी ऐसी चीजें थीं, जो अब भी सर्व-साधारण के समक्ष सम्यक् रूप से प्रकट नहीं हुई हैं।

❖ (आगामी अंक में जारी) ❖

माँ के सान्निध्य में (५९)

श्रीमती सुशीला मजुमदार

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था। उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षों से प्रकाशित कर रहे हैं। इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशों का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है। प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशों का अनुवाद। – सं.)

भवानीपुर से मैं अपने पतिदेव तथा पुत्रों के साथ श्री माँ के चरण-दर्शन करने गयी। देखा कि वे ऊपर के बीचवाले कमरे के चौखट के सामने खड़ी होकर किसी के साथ बातें कर रही हैं। प्रणाम करते ही वे बोलीं, "कहाँ से आयी हो, बेटी?" मानो कब की परिचित हों! मैंने कहा, "हमारा घर ढाका में है।" इतनी बातें होते-न-होते गोलाप-माँ ने माँ को पुकारकर कहा कि राम बाबू तथा निताई बाबू दर्शन करने आये हैं। कपिल महाराज मुझसे कह गये, "आप थोड़ा किनारे हो जाइए, बलराम बाबू के पुत्र और भतीजे आये हैं; उनकी माँ के साथ बातचीत हो जाने के बाद आपको जो कुछ कहना हो, कहियेगा।" निताई बाबू आकर माँ के सामने खड़े हो गये। उनके साथ बातें करने के बाद माँ ने मेरे हाथ में दो रसगुल्ले दिये और बगल में स्थित मन्दिर में राम बाबू से मिलने चली गयीं। मैं हाथ में रसगुल्ले लिये हुए बैठी रही। रामबाबू के साथ वार्तालाप हो जाने के बाद माँ ने मुझे मन्दिर में बुलाया और बोलीं, "खाया क्यों नहीं? प्रसाद है, खा डालो।"

एक महिला-भक्त ने आकर कहा, "माँ, सारी मिठाइयाँ लोगों को खिला देने पर हम लोग क्या खायेंगी?" यह सुनकर मैं संकुचित हो गई, क्योंकि तब भी दोनों रसगुल्ले मेरे हाथ में ही थे। मैं बोली, "आप इन दोनों को खा लीजिए।" उन्होंने कहा, "नहीं बेटी, मैंने तुमसे तो कहा नहीं, तुम्हारा मैं क्यों लूँगी?" माँ ने उनसे कहा, "ओ ..., यह सब मत कहो, भक्तों के मन में कष्ट होगा। लोग बहुत हैं, दो दो देने से भी पूरा नहीं पड़ा। अहा, ये लोग सात समुद्र तेरह नदियाँ पार करके आये हैं।" माँ के बार बार कहने पर मैंने उसे खा लिया। माँ ने स्वयं ही पानी ला दिया। इसके बाद वे बोलीं, "रसगुल्लों का रस जमीन पर पड़ गया है, गीले कपड़े से पोंछ डालो और हाथ धो लो।" यह सब हो जाने के बाद माँ तख्त पर बैठ गयीं और मेरा परिचय आदि पूछने लगी। मैंने जब कहा, "मेरा एक पुत्र है" – तभी नी... प्रणाम करने आ गया। मैने कहा, "माँ, यही लड़का है।" नी... के प्रणाम करके चले जाने पर, माँ बोलीं, "लड़के का विवाह नहीं किया?"

मैं — नहीं हुआ है।

माँ — एक ही लड़का है, विवाह नहीं किया?

मैं — वह विवाह करना नहीं चाहता।

माँ — अहा, आजकल लड़कों की बस वही एक बात! क्यों, विवाह करके क्या अच्छा-जीवन नहीं बिताया जा सकता? मन के द्वारा ही सब कुछ होता है। ठाकुर ने क्या मेरे साथ विवाह नहीं किया? लड़के ने दीक्षा तो ली है न?

मैं — हाँ, आप ही का तो बच्चा है।

माँ — हाँ! तो फिर विवाह क्यों नहीं करेगा? ठीक है, मैं कह दूँगी। शायद वह सांसारिक कष्टों में नहीं पड़ना चाहता। (परन्तु) दु:ख-कष्ट पाकर भी जो ठाकुर को पकड़े रहेगा, वह उन्हें अवश्य प्राप्त करेगा। जरा बताओ तो, तुम्हारी क्या इच्छा है?

मैं — माँ, उसका कल्याण कैसे होगा, यह तो मैं समझती नहीं। आप उसका भला-बुरा सब जानती हैं, अत: आप जो कहेंगी वही होगा; मेरा उससे कोई अलग मत नहीं है।

माँ — देखो, जिन लोगों का बड़ा ऊँचा घर है, वे ही साधु होकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं; फिर कोई कोई संसार के भोगों का स्वाद लेने के लिए ही जन्म लेते हैं। मेरा कहना है कि भोगों का पूरी तौर से कट जाना ही अच्छा है। ठाकुर के अन्तरंगों की बात अलग है।

मैं — माँ, वह तो आप ही का लड़का है। उसके भले-बुरे का भार आपके हाथों में है। जो करना उचित होगा, आप उसे बता दीजिएगा।

माँ — मेरा कहना है कि वह विवाह करे, ताकि उसके सारे भोग पूरी तौर से कट जायँ; नहीं तो फिर कौन-सा भोग कहाँ से आ जुटेगा, कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह जान रखना कि ठाकुर ने जब पकड़ा है, तो उसका किसी भी हालत में पतन नहीं होगा। तुम निश्चिन्त मन से बैठी रहो। मैंने उसे ठाकुर का दिया हुआ सिद्ध-मंत्र प्रदान किया है, उसका क्या कभी अमंगल हो सकता है?

इसके बाद वे बोलीं, "यहीं पर प्रसादी भोजन करोगी न?" मेरे 'हाँ' कहने पर माँ कोठारी को बताकर लौट आयीं।

माँ — तुमने किससे दीक्षा ली है? किससे ठाकुर का नाम सुना है?

मैं — हम लोग देवभोग में नाग महाशय के पास जाया करते हैं और वहाँ उनसे ठाकुर की बातें सुनते हैं। उनका भाव देखकर मन में सर्वदा ठाकुर तथा आपको देखने की बड़ी आकांक्षा होती है। ठाकुर के चरण-दर्शन का सौभाग्य तो नहीं मिला; आपकी कृपा से आपके चरणों का दर्शन हुआ और ठाकुर को देखने की आकांक्षा भी तृप्त हो गयी। दीक्षा साक्षात् रूप से नही हुई है।

माँ — स्वप्न में मिला है न?

मैं — हाँ माँ, स्वप्न में मैंने आपका दर्शन किया है और मंत्र पाया है।

माँ — अच्छा, मंत्र तो याद है न? मुझे बता डालो।

बीजमंत्र बताते ही माँ बोलीं, "हाँ, तुम्हारा घर यही है; अच्छा है, तुम भाग्यवती हो।

मैं — माँ, और कुछ नहीं बतायेंगी?

माँ — नहीं, इस बीज का ही जप करना और निश्चित रूप से जान रखना कि उसी में तुम्हारा कल्याण है। किसके साथ आयी हो?

मैं — अपने पतिदेव के साथ।

माँ — ये कहाँ रहते हैं? क्या काम करते है?

मैं — वे रा... बाबुओं की जमींदारी में मैनेजर हैं।

माँ — हे भगवान! तो तुम मैनेजर बाबू की पत्नी हो! अब तक बताया क्यों नहीं? ओ राधू! ओ माकू! आकर मैनेजर बाबू की पत्नी को प्रणाम करो।

माँ की इस कारगुजारी पर अचम्भित होकर मैं बोली, "माँ, यह आप क्या कह रही हैं? मैं जाति से कायस्थ हूँ, ये लोग ब्राह्मण की सन्तान होकर भला मुझे कैसे प्रणाम करेंगी?"

माँ ने कहा, "यह सब नहीं कहना चाहिए। तुम भक्त हो और भक्तों की कोई जाति नहीं होती। तुम्हें प्रणाम करने से इनका कल्याण होगा।"

राधू और माकू के आने पर मेरे द्वारा उनके पाँव पकड़ते ही माँ बोली, "रहने दे, रहने दे, नहीं करने देगी। ये लोग भक्त हैं न, इसीलिए सभी प्राणियों में ईश्वर को देखते हैं। अच्छा, देवभोग में तुमने दुर्गा (नाग महाशय) से क्या सुना है? उसके साथ तुम्हारा परिचय और आना-जाना कैसे शुरू हुआ?"

मैं — मेरे पतिदेव एक बार वहाँ साधु-दर्शन के लिए गए थे। उसी समय नाग महाशय ने उन्हें अपना बनाकर बारम्बार ठाकुर की बातें कहीं और दया करके मुझसे मिलने हमारे घर आये। उनके भाव तथा स्नेह पर मुग्ध होकर हम लोग बहुत दिनों तक उनके पास आना-जाना करते रहे। उन्होंने दया करके हमें अपना लिया और आपके तथा ठाकुर के माहात्म्य के विषय में अवगत कराया। इसी से हमने अपने प्राणों में आप दोनों के प्रति आकर्षण का बोध किया। वे सर्वदा कहते रहते थे, "मैं कुछ भी नहीं हूँ, ठाकुर रामकृष्ण देव ही मेरे सर्वस्व हैं। यदि अपने कल्याण की इच्छा हो, तो मन-प्राण से उनके शरणापन्न हो जाओ; इसके अलावा दूसरी कोई गति नहीं है। भाग्य में था, इसीलिए ठाकुर के उन श्री चरणों का दर्शन हुआ और इसी से में धन्य हो गया। शिवावतार स्वामीजी का मैंने साक्षात् दर्शन किया है, साक्षात् माँ भगवती का दर्शन किया है और माँ की कृपा पायी है। और क्या कहूँ, तुम सभी काय-मनो-प्राण से माँ और ठाकुर के श्री चरण-कमलों में शरण लो। इसी से कल्याण होगा।"

माँ — अहा, उसकी बातें और क्या कहूँ! मुझे साक्षात् भगवती के रूप में देखता था। पहली बार जब वह मेरा दर्शन करने आया, उस दिन मैंने एकादशी का व्रत कर रखा था। उन दिनो कोई भी पुरुष-भक्त मेरा साक्षात् दर्शन नहीं कर पाता था। वे लोग सीढ़ी पर ही सिर टेककर प्रणाम किया करते थे। एक नौकरानी नाम बताते हुए मुझसे कहती, "माँ, आपको अमुक बाबू प्रणाम कर रहे हैं।" मैं भी वहीं से आशीर्वाद जना देती थी।

"उस दिन नौकरानी ने आकर कहा, 'माँ, नाग महाशय कौन हैं? वे प्रणाम कर रहे हैं, परन्तु सिर इतनी जोर से ठोक रहे हैं कि लगता है खून निकल आयेगा। महाराज (स्वामी योगानन्द) पीछे से उन्हें रुकने के लिए कह रहे हैं, परन्तु वे कुछ बोल नहीं रहे हैं — मानो होश ही न हो। माँ, वे पागल हैं क्या?' मैं बोली, 'योगेन से उसे यहाँ भेजने को कहो।' योगेन स्वयं ही उसे पकड़कर ले आया। देखा कि कपाल सूज गया है, आँखों से आँसू बह रहे हैं और पाँव इधर-उधर पड़ रहे हैं; आँखें गीली हो जाने के कारण वह मुझे देख नहीं पा रहा है। मैंने उसे पकड़कर बैठाया। पागल के समान वह केवल 'माँ, माँ' कहे जा रहा था, तथापि शान्त-धीर-स्थिर था। मैंने उसकी आँखें पोंछ दी। यह घटना जब हुई, उस समय मैं भोजन करने बैठी थी। मेरी थाली में पूरियाँ, मिठाइयाँ और फल थे। थोड़ा थोड़ा खाकर मैं उसे खाने को देने लगी। अजी, वह खा ही नहीं पा रहा था, खाने की चीजें निगल नहीं पा रहा था। बाहर की ओर मन ही न था, केवल 'माँ, माँ' रटे जा रहा था और मेरे पाँवों में हाथ लगाकर बैठा रहा। अन्य महिलाएँ मुझसे कहने लगी, 'माँ, तुम्हारा तो खाना ही नहीं हुआ। महाराज से इन्हें हटाने को कहते हैं।' मैंने कहा, 'रहने दो, यह थोड़ा स्थिर हो ले।' थोड़ी देर तक मस्तक तथा शरीर पर हाथ फेरते और ठाकुर के नाम का उच्चारण करते रहने पर उसे होश आया। मैं भी भोजन करने लगी और उसे भी खिलाने लगी। खाना हो जाने पर उसे नीचे ले जाया गया। केवल जाते समय ही वह मुझसे कह गया, 'नाऽहं नाऽहं तुहू

(शेष पृष्ठ ३१९ पर)

भारतीय नव-जागरण और श्रीरामकृष्ण

प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद,

(रामकृष्ण मिशन, अगरतला के धालेश्वर उपकेन्द्र ने एक चल-चिकित्सालय आरम्भ किया है। ३० नवम्बर १९९९ ई. को उसके उद्घाटन के अवसर पर त्रिपुरा के महामहिम राज्यपाल ने एक अत्यन्त हृदयग्राही व्याख्यान दिया था। प्रस्तुत है उसी भाषण का सार-संक्षेप – सं.)

रामकृष्ण मिशन के इस मोबाइल मेडिकल सेंटर का आज मैं विधिवत् उद्घाटन करते हुए बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के सेवा-कार्य के लिए अपने शिष्यों को परमहंस श्रीरामकृष्ण देव ने जो प्रेरणा दी और फिर उस प्रेरणा के कारण स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरुभाइयों तथा भक्तों के सहयोग से जिस रामकृष्ण मिशन की स्थापना की उसी के कारण उनका व्यक्तित्व इधर के हजारों वर्षों के अन्य आध्यात्मिक पुरुषों से सर्वथा विशिष्ट हो जाता है। भारत में हजारों वर्षों से कहा जाता रहा है –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनां आर्तनाशनम्।।

भला कितने आध्यात्मिक व्यक्ति राज्य या स्वर्ग की कामना छोड़ पाये? कितने धार्मिक पुरुषों ने दुखियों की पीड़ा को दूर करने की ओर ध्यान दिया? इस क्रान्तिकारी परम्परा को शुरू करते हुए श्रीरामकृष्ण ने मोक्ष की कामना को त्यागा नहीं, बल्कि उसमें सेवा की भावना का समावेश कर सोने में सुगन्ध की कहावत को चरितार्थ कर दिया। इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने 'मोक्षार्थम्' में 'जगत्-हिताय' को जोड़कर प्रबुद्ध भारत की सुदृढ़ आधारशिला का श्रीगणेश कर दिया। दुःख की बात यह है कि आध्यात्मिक-धार्मिक चिन्तन-धारा में लाये गये इस मौलिक परिवर्तन के महत्व को आज भी ठीक ठीक समझा नहीं जा रहा है।

सरकारी या गैर-सरकारी बड़ी बड़ी कम्पनियाँ दूर-देहातों में रहनेवाले गरीबों-असहायों की सेवा की ओर पहले कहाँ ध्यान देती थीं? वे पहले बड़े-बड़े शहरों में अपने-अपने भवन का निर्माण करके या तो वहाँ किसी बड़ी संस्था का दफ्तर खोल देती थीं अथवा कहीं कोई अस्पताल या मन्दिर या कोई पूजाघर बना देती थीं। परन्तु भारत तो शहरों में नहीं, गाँवों में बसता है; हर प्रकार की समस्या का विकराल रूप वहीं देखने को मिलता है। श्रीरामकृष्ण ने किस प्रकार आध्यात्मिक प्रवाह की दिशा को बदल दिया? गीता के 'विभूतियोग' अध्याय में भगवान कृष्ण तो बता गये थे कि सारा ब्रह्माण्ड मेरा शरीर है, ब्रह्माण्ड की विभूति में मैं ही हूँ, फिर भी हर प्राणी की ईश्वर-भाव से सेवा की ओर धार्मिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तियों का ध्यान कहाँ गया था? यह तो वस्तुतः प्रेमा भक्ति का चरम रूप है। वैदिक युग से 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' – का उदघोष होता आ रहा है, फिर भी भारत की निद्रा कहाँ टूटी? अगर टूटी होती तो फिर दुर्दिन क्यों देखने पड़ते?

एक दिन नरेन्द्रनाथ ने जब परमहंसदेव से मोक्ष की स्थिति – समाधि की स्थिति प्राप्त करने की कामना की, तो उन्होंने यह कहकर उन्हें खूब डाँटा-फटकारा कि तुम भी स्वार्थी बनकर, सबकी सेवा के कार्य को छोड़कर, केवल अपनी मुक्ति चाहते हो? इससे नरेन्द्र का जीवन बदल गया, वे स्वामी विवेकानन्द हो गये, सारे संसार में अपने गुरुदेव के दिव्य सन्देश के वाहक हो गये और रामकृष्ण मिशन के रूप में एक ऐसी संस्था की स्थापना कर गये, जो देखते-ही-देखते आज सारे संसार की एक उत्कृष्ट संस्था बन गयी है।

सबमें परमात्मा का दर्शन करनेवाला सेवा से विमुख कैसे हो सकता है? और जिसमें ऐसी दृष्टि है ही नहीं, वह सेवा कैसे कर सकता है? श्रीरामकृष्ण ने रास्ता बताया था कि कटहल को काटने से पहले हाथ में तेल लगा लिया जाता है, ताकि उसका दूध चिपके नहीं। 'ईशावास्यम्'-भाव वह तेल है जिसके कारण सेवक में संसार चिपकता नहीं। इसी को कहा है – 'न कर्म लिप्यते नरे।' ईश-भाव से प्राणिमात्र की सेवा करने से न कर्म उससे चिपकता है और न वह मोह या लोभवश कर्म से चिपकता है। श्रीरामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द से कहा था कि समय आने पर तुम्हें आत्मज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, परन्तु यह तब होगा जब तुम्हारे इस जीवन का कार्य समाप्त हो जाएगा। और वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। जिस रोज स्वामीजी ने यह नश्वर संसार छोड़ा, उस रोज का उनका सारा कार्य अलौकिक और अप्रत्याशित था। वे कई घण्टे तक अपने कमरे की खिड़कियाँ और दरवाजों को बन्द करके अपने स्वरूप का ध्यान करते रहे, जब बाहर निकले तो सबसे प्रेमपूर्वक मिले, सबके साथ भोजन किया और विश्राम करने के नाम पर समाधिस्थ हो गये।

स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभाइयों ने युग-परिवर्तन का जो कार्य किया, वह सब परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की प्रेरणा से, वस्तुतः उनके मार्ग-दर्शन के अनुसार ही किया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसे कहा है, "असंख्य बंधनों के बीच ही मैं महानन्दमय मुक्ति का स्वाद चखूँगा।" स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, महर्षि रमण, महायोगी श्रीअरविन्द और महात्मा गांधी इसी भारतीय नव-जागरण के प्रकाश-पुरुष थे। यह भारतीय नव-जागरण भारत की आत्मोपलब्धि की सनातन परम्परा से जुड़ा हुआ था। अंग्रेजी राज्य का इस पर इतना प्रभाव अवश्य पड़ा कि सबने किसी-न-किसी रूप में आत्मोपलब्धि को स्वतंत्रता की उपलब्धि और सामाजिक परिवर्तन

से भी जोड़ दिया । लोकमान्य तिलक ने "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है" – कहकर वैदिक स्वराज्य को आधुनिक अर्थ प्रदान किया ।

लगातार यह भ्रम फैलाया जाता रहा है कि राजा राममोहन राय भारतीय नव-जागरण के अग्रदूत थे । वस्तुत: वे अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति की वकालत करनेवाले लार्ड विलियम बेंटिक और लार्ड मैकाले के उन विचारों के समर्थक थे, जो अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति भारत में प्रचलित कर इसे 'काले साहबों का देश' बनाना चाहते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयता के स्थान पर अंग्रेजियत हावी होती गयी और देशी-विदेशी सब विलायती शिक्षा प्राप्त तथाकथित आधुनिक लोग भारत को पश्चिम की 'कार्बन कापी' बनाने पर तुल गये । इसे किस अर्थ में भारत का नव-जागरण कहना उचित होगा? यह भारत की पहचान माना जाएगा या भारत का विस्मरण? स्वामी दयानन्द, परमहंस श्रीरामकृष्ण देव या महर्षि रमण जैसे आत्म-ज्ञानीयों को अंग्रेजी भाषा या अंग्रेजियत से तो कोई सरोकार तक नहीं था, परन्तु भारत के वास्तविक जागरण के पुरोधा तो ये ही थे न? राजा राममोहन राय ने जिस अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजियत का समर्थन किया था उसका परिणाम आज सामने है, इस पर और किसी टिप्पणी की जरूरत ही नहीं है ।

भारतीय परम्परा की आधारशिला साक्षरता नहीं, बल्कि आत्मबोध की सार्थकता रही है । परमहंस श्रीरामकृष्ण देव या महर्षि रमण साक्षर व्यक्तियों में नहीं थे; ये थे आत्मबोधी व्यक्तियों में, मानव-जन्म को सार्थक बनानेवाले व्यक्तियों में । यह भारतीय परम्परा की विशिष्टता और जीवन्तता का प्रमाण है कि यहाँ निरक्षर व्यक्ति भी युग-प्रवर्तन का कार्य करते आये हैं । परमहंस और महर्षि आधुनिक भारत में हुए, संत कबीर हुए मध्यकाल में । इसका कारण रहा है, भारत में ज्ञानदान की मौखिक परम्परा की वह विशिष्टता जो संसार की किसी अन्य परम्परा में लगभग है ही नहीं । बात केवल इतनी ही नहीं है कि ज्ञानदान और संस्कार-निर्माण की मौखिक परम्परा से कम खर्चीली और कोई शिक्षा-पद्धति नहीं हो सकती, बल्कि यह भी कि इससे जन-सामान्य के सांस्कृतिक जीवन के स्तर को भी ऊँचा उठाना सरल-सहज हो जाता है । भारतीय परम्परा की इस नैसर्गिक शक्ति के कारण ही यहाँ सदा एक-से-एक ऐसे विलक्षण महापुरुष होते आए हैं, जिन्होंने समाज को प्रेरणा और प्राणवत्ता प्रदान की है । भारतीय समाज की यह अदम्य जिजीविषा इसके सांम्कृतिक जीवन-प्रवाह को कभी खण्डित नहीं होने देती ।

परमहंस श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के योग से शिक्षा और साक्षरता दोनों को नवजीवन प्राप्त हुआ । श्रीरामकृष्ण की अन्तर्दृष्टि ने विवेकानन्द की सुदीप्त शक्ति को पहचान कर उनका ऐसा मार्गदर्शन किया कि वे एक शुष्क तार्किक विद्वान होने के बदले नवयुग के संदेशवाहक बन गये । परन्तु उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा की अंग्रेजियत को भुलाकर, पश्चिम की भौतिकता के सार को स्वीकार कर; इनमें श्रीरामकृष्ण के माध्यम से भारत के लिए आत्मज्ञान का जो नवजागरण हुआ था उसे जोड़ दिया और उसी सन्देश को सारे संसार के सामने आधुनिक शैली में प्रस्तुत करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया । यदि ऐसा योगायोग नहीं होता, तो न तो रामकृष्ण मिशन की स्थापना का प्रसंग आता और न संसार को इसका भरोसा होता कि वेदान्त हर युग के लिये समान रूप के प्रासंगिक है और बहुलभाव (प्लुरलिज्म) से उत्पन्न सर्व-धर्म-सम-भाव और सहिष्णुता भारतीय परम्परा की सनातन विशेषता है, न कि भारत को पश्चिम से प्राप्त कोई नयी चीज ।

रामकृष्ण मिशन का एक मिशन तो है, प्राणिमात्र की सेवा करना, मानवमात्र को आत्मबोध का अवसर प्रदान करना, परन्तु उसके इस मिशन में किसी प्रकार की कोई संकीर्णता या कट्टरता नहीं है । यह तात्त्विक दृष्टि वेदान्त के कारण है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा परमहंस श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के गुणों और उनके जीवन-प्रसंगों से प्राप्त साकार प्रेरणा के कारण ही है ।

जनसाधारण ने ही नहीं, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महायोगी श्रीअरविन्द और महात्मा गांधी के प्रामाणिक कथन इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय परम्परा को नवजीवन प्रदान करने में निरक्षर भट्टाचार्य श्रीरामकृष्ण देव का स्थान कितना ऊँचा था । आज पुन: इस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है ।

कार्ल मार्क्स ने कहा था कि सबका मूल 'अर्थ' है और समाज का सारा ऊपरी ढाँचा उसी नींव पर टिका हुआ है । उनकी मंशा यह थी कि राजसत्ता का उपयोग अर्थसत्ता को नियंत्रित करने हेतु होना चाहिए, जिसमें उत्पादन के साधन व्यक्ति के स्थान पर राज्य के हाथों में हों । काल-पुरुष का क्रूर व्यंग्य यह हुआ है कि आज लगभग सारे संसार में अर्थसत्ता ही राजसत्ता को नियंत्रित करने लगी है, परन्तु जिस अर्थ में मार्क्स ने सोचा था उससे सर्वथा विपरीत अर्थ में । अब बाजार की शक्तियाँ ही राजनीति की शक्तियों को नियंत्रित करने लगी हैं, फलत: आज सारे संसार में, बाजार-भाव की तरह, शेयरों के मूल्य-सूचकांक की तरह, रोज उतार-चढ़ाव हो रहे हैं । इनके सूत्रधार वे हैं जिनका जीवन के मूल्यों या आम लोगों के सुख-दु:ख से कोई सरोकार नहीं है । ये मूल्य-निरपेक्ष, धर्म-निरपेक्ष और तटस्थ होने का जो दावा करते हैं, उसका कारण अपने मुनाफे को हर ओर की आँच से बचाना है ।

परमहंस श्रीरामकृष्ण तथा उनके अनुयायियों ने 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष' के पुरुषार्थ-भाव को आत्मज्ञान के प्रकाश से

आलोकित जीवन जीने के लिए प्रेरित किया । इसीलिए परमहंस के शिष्य जीवन-संग्राम से भागे नहीं, बल्कि उन लोगों ने आम आदमी के जीवन-पथ को आलोकित किया, उसे गति दी; तामस को राजस में और राजस को सात्विक में रूपान्तरित किया । सारे शोर-गुल और खींच-तान के बावजूद आज भारतीय जीवन में जो सन्तोष और शान्ति है, उसके मूल में इस आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का प्रभाव ही मुख्य रूप से काम कर रहा है । तुलनात्मक दृष्टि से स्थिति यह है कि वर्ष भर में सारे भारत में जितनी हत्याएँ होती हैं उससे अधिक अमेरिका के केवल न्यूयार्क शहर में हो रही हैं । आर्थिक समृद्धि जीवन में सुख-शान्ति कहाँ दे पा रही है?

मनुष्य के जीवन की तीन भूमिकाएँ होती हैं – स्वार्थ, धर्मार्थ, परमार्थ । संसार के सभी धर्म स्वार्थ को धर्मार्थ का रूप देने की बात सिखाते आये हैं । पर वह पर्याप्त नहीं है । धर्मार्थ को परमात्मा तक पहुँचने के लिए, मनुष्य को सीखना होगा कि धर्मार्थ को कैसे परमार्थ का रूप दिया जाय । रामकृष्ण मिशन ने मानव-समाज को इसी महान् उद्देश्य को प्रेरित करने का व्रत लिया है । मिशन को इस उद्देश्य की प्राप्ति में अब तक जो सफलता मिली है, वह वस्तुत: अकल्पनीय है । इसका कारण यह है कि मिशन केवल सेवा-कार्य ही नहीं, बल्कि वेदान्त-प्रतिपादित और श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के जीवन में प्रतिफलित जीवन-दृष्टि को भी सभी जिज्ञासुओं को मुक्त भाव से प्रदान करता आया है ।

नाना प्रकार के सन्देहों तथा आशंकाओं से घिरे इस वर्तमान मानव-समाज में आत्म-विश्वास और सद्भाव पैदा करने की आवश्यकता है । यह तभी सम्भव है, जब हमारी लुप्त आस्था का स्रोत पुन: प्रवाहित होने लगे । श्रीरामकृष्ण परमहंस में आस्था का अर्थ किसी अन्धविश्वास का पोषण नहीं, बल्कि अपने में आत्मविश्वास उत्पन्न करने के संकल्प का आरम्भ है । वेदान्त तो सारे अन्धविश्वासों को निर्मूल करनेवाला जीवन-दर्शन है । इसीलिये स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त और विज्ञान के समन्वय की बात की ।

भारत में इसका आरम्भ बहुत पहले हो चुका था । स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने मेरा ध्यान शंकराचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य के उस अंश की ओर आकृष्ट किया, जहाँ उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान को 'वस्तुतंत्रज्ञानम्' कहा है । संसार के अन्य किसी धर्मवेत्ता, तत्ववेत्ता या लेखक ने आज तक ब्रह्मज्ञान के लिए ऐसी क्रान्तिकारी और वैज्ञानिक भाषा का प्रयोग नहीं किया है । 'वस्तुतंत्रज्ञान' कल्पित ज्ञान नहीं, बल्कि सर्वथा निरपेक्ष ज्ञान है । अत: ब्रह्मज्ञान किसी यंत्र के माध्यम से नहीं, बल्कि अपने अनुभव से प्राप्त करना होता है ।

आधुनिक युग में इसकी प्राप्ति के लिए स्वानुभूति की साधना कैसे की जाय, इसे जानने के लिए श्रीरामकृष्ण देव का साधनामय जीवन एक खुली पुस्तक है । इस ज्ञान के आलोक में लोक-सेवा का कार्य किस प्रकार किया जाय, स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन इसका जीवन्त उदाहरण है ।

(पृष्ठ ३१६ का शेषांश)

तुहू' । पास उपस्थित लोगों से मैंने कहा, 'देखो, कितनी बुद्धि है!' अजी, मेरे लिए सब कुछ कर सकता था ।

"एक बार वह गन्दे-फटे कपड़े पहने अपने घर के पेड़ के अच्छे अच्छे आम एक टोकरी में रखकर ले आया था । उसके मन का भाव था कि बैठकर मुझे खिलायेगा । परन्तु उसने मुख से कुछ कहा नहीं । केवल भिखारी के समान इधर उधर घूमता रहा । योगेन ने कहला भेजा, 'माँ को बताओ कि नाग महाशय आम लेकर आये हैं । वे किसी से कुछ कहते भी नहीं और किसी को देते भी नहीं ।' मैं बोली, 'यहाँ भेज दो ।' भेजे जाने पर वह सिर पर टोकरी लिए ही आया । एक ब्रह्मचारी ने उसके सिर से टोकरी उतार ली । तब भी ठाकुर की पूजा नहीं हुई थी । मुझे प्रणाम करके ही वह पिछली बार के समान बेहोश हो गया । उसके मुख से केवल ठाकुर का नाम और 'माँ' 'माँ' की ध्वनि निकल रही थी । दोनों नेत्रों से आँसू बहकर लुढ़के जा रहे थे । बड़े अच्छे आम थे – कुछ को चूने से चिह्नित किया हुआ था; उन्हें काटकर ठाकुर को भोग दिया गया । योगेन (माँ) ने एक पत्तल में लाकर मुझे प्रसाद दिया । मैंने थोड़ा खाया और गोलाप से कहा, 'एक पत्तल और दो ।' पत्तल आ जाने के बाद मैंने अपने पत्तल से प्रसाद उठाकर देते हुए कहा, 'खाओ' । परन्तु खायेगा कौन! उसे तो होश ही नहीं था, हाथ मानो अवश थे । पकड़कर बहुत कहने पर भी उसने खाया तो नहीं, एक आम लेकर सिर से रगड़ने लगा । नीचे सूचना देने पर वे लोग आदमी भेजकर उसे ले गये । प्रणाम करते करते उसका सिर सूज गया था और वह अन्न प्रसाद भी ग्रहण नहीं कर सका । बाद में सूचना मिली कि होश में आते ही वह चला गया ।"

❖ (क्रमश:) ❖

आचार्य रामानुज (७)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक-अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्यःप्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रातःस्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

२. रामानुज का जन्म

मद्रास से तीस मील दक्षिण-पश्चिम में श्रीपेरम्बुदुर नाम का एक समृद्ध ग्राम है। संस्कृत में इसे श्रीमहाभूतपुरी कहते हैं। ग्रामवासियों में ब्राह्मणों की संख्या ही अधिक है। गाँव के भीतर एक सुन्दर और विशाल विष्णु-मन्दिर भी है। उसमें केवल त्रिलोकभर्ता विष्णु श्री आदिकेशव पेरुमल नाम धारणकर विराजमान हैं और सबके प्रति उनकी समान भाव से कृपादृष्टि है। मन्दिर प्रांगण के दूसरे छोर पर एक अन्य देवालय भी सुशोभित होता है। इसमें यतिराज, भक्तवीर, भक्तवत्सल, वेदान्तपद्मार्क, भाष्यकार श्रीमत् रामानुजाचार्य हाथ जोड़े सेवकराज के आसन पर बैठे हैं। सामने एक निर्मल, निस्तरंग, सुविशाल सरोवर पवित्र-भक्त-हृदय के समान इस वैकुण्ठोपम सम्पूर्ण देवालय को अपने हृदय में धारण किये हुए है। इसके अतिरिक्त वहाँ की नैसर्गिक शोभा भी सबका हृदय बरबस आकृष्ट कर लेती है। यह स्थान नाना प्रकार की वृक्ष-लताओं से आच्छादित, विहग कुलों के कलरव से मुखरित, यत्र-तत्र प्रस्फुटित पुष्पों के सौरभ से उद्भासित, शान्ति-माधुर्य-सौन्दर्य का आकर और हृष्ट-पुष्ट लोगों से परिपूर्ण है। वहाँ जाते ही ऐसा बोध होता है कि निरन्तर विश्व के पालनकार्य में लगे रहकर जब कमलापति बीच बीच में थक जाते हैं, तो विश्राम करने हेतु अपने प्रिय सेवकों के साथ यहीं पधारते हैं।

लगभग १००० वर्ष पूर्व आसुरी केशवाचार्य नामक एक धर्मनिष्ठ सद्ब्राह्मण का इसी ग्राम में निवास था। उन दिनों श्रीमत् यामुनाचार्य या आलवन्दार ने राजसिंहासन का परित्याग कर नम्बी का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया था और श्रीरंगक्षेत्र में संन्यासी के रूप में निवास कर रहे थे। गुरु के वैकुण्ठ गमन के पश्चात् आलवन्दार ही तत्कालीन समग्र वैष्णव-मण्डली के नेता के रूप में स्वीकृत हुए। उनका असाधारण त्याग, वैराग्य, पाण्डित्य, नम्रता, इष्टनिष्ठा आदि समस्त वैष्णवों के लिये अनुकरणीय हो उठा। उनके द्वारा रचित स्तोत्रों को सबने कण्ठस्थ तथा अपने अन्तर में स्थान देकर अपने को धन्य माना। वस्तुतः उन स्तोत्रों में महात्मा यामुनाचार्य ने ऐसी उत्कट भक्ति एवं प्रीति के साथ श्री भगवान के पादपद्मों में आत्मनिवेदन किया है कि उसे पाठ करने पर धर्मविद्वेषी के हृदय में भी भक्ति का संचार होता है। चारों ओर से दल-के-दल भक्तिपरायण वैष्णवों ने आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया और अपने को परम भाग्यवान माना। उनमें से दो-एक संन्यास लेकर उनके साथ रहकर उनकी सेवा में दिन बिताते हुए स्वयं को सर्व प्रकार से धन्य मानने लगे।

पेरियातिरुमलै नम्बी उर्फ वृद्ध श्री शैलपूर्ण यामुनाचार्य के प्रधान शिष्य हुए। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम भाग में गृहस्थाश्रम त्यागकर उक्त महापुरुष से संन्यास ग्रहण किया और उनके सान्निध्य में रहने लगे। उनकी दो बहनें थीं। बड़ी का नाम था भूमि पेराट्टी, भूदेवी या कान्तिमती और छोटी का नाम था पेरिया पेराट्टी या महादेवी।

श्री पेरम्बुदुर निवासी आसुरी केशवाचार्य ने कान्तिमती का पाणिग्रहण किया था। छोटी बहन महादेवी निकटस्थ अहरम ग्राम के निवासी कमलनयन भट्ट के साथ विवाह-शृंखला में आबद्ध हुई। दोनों बहनों का विवाह सम्पन्न हो जाने के पश्चात् श्री शैलपूर्ण ईश्वर के ध्यान में तन्मय हुए और अन्ततः महात्मा यामुनाचार्य के समान सद्गुरु प्राप्तकर वृद्धावस्था में उन्हीं के साथ रहकर परमानन्द का उपभोग करने लगे।

आसुरी केशवाचार्य के अतिशय यज्ञनिष्ठ होने के कारण पण्डितों ने उन्हें 'सर्वक्रतु' की उपाधि दी थी। अतः उनका पूरा नाम श्रीमदासुरी सर्वक्रतु दीक्षित हो गया था। विवाह के बाद उन्होंने अपनी सहधर्मिणी के साथ अनेक वर्ष श्रीपेरम्बुदुर में सुखपूर्वक बिताए, परन्तु बाद में कोई सन्तान न होने के कारण भक्त केशवाचार्य थोड़े चिन्तित हुए। आखिरकार उनके मन में यज्ञ के द्वारा श्री भगवान को प्रसन्न कर उनकी कृपा से पुत्रलाभ की आशा जाग्रत हुई।

यज्ञ एव परो धर्मो भगवत्प्रीतिकारकः।
अभीष्टकर्मधुग् यज्ञस्तस्मात् यज्ञः परा गतिः ।।[१]

इस प्रकार के सन्तापहारी शास्त्र-वाक्यों ने उनकी आशा को और भी प्रबल कर दिया। उन्होंने समुद्र-तट पर स्थित वृन्दारण्यवासी श्री पार्थसारथी के मन्दिर में जाकर अपने हृदय की कामना व्यक्त की और उक्त उद्देश्य से यज्ञ करने का

१. यज्ञ करना सर्वोच्च कर्म है, यह ईश्वर को प्रसन्न करनेवाला है। समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होने के कारण यज्ञ ही परम आश्रय है।

संकल्प किया। तदनुसार वे अपनी धर्मपत्नी के साथ वृन्दारण्य गए और श्री पार्थसारथी के कुमुद-सरोवर या तिरुवल्लि केनी (तिरुश्री, इल्लिकुमुद, केनी सरोवर) के किनारे उन्होंने पुत्र-कामना से यज्ञ किया। आज मद्रास में हम लोग जिस स्थान को त्रिप्लिकेन कहते हैं, वह उसी तिरुवल्ली केनी का आंग्ल अपभ्रंश है। जो उन दिनों वृन्दारण्य के नाम से विख्यात था, वह अब उसी सरोवर के नाम पर त्रिप्लिकेन हो गया है। मद्रास, मथुरा या मदुरा का अपभ्रंश है, जो वृन्दारण्य या त्रिप्लिकेन के उत्तर में स्थित है।

यज्ञ सम्पन्न हो जाने पर रात में केशवाचार्य को स्वप्न में श्री पार्थसारथी का दर्शन हुआ। भगवान उन्हें सम्बोधित करते हुए बोले, "हे सर्वक्रतो, मैं तुम्हारे सदाचार, निष्ठा एवं भक्ति से अतीव प्रसन्न हूँ। तुम चिन्तित मत होना। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म लूँगा। लोग दुर्बुद्धि के कारण पूर्वाचार्यों का यथार्थ अभिप्राय समझने में असमर्थ होकर स्वयं को ही ईश्वर मान रहे हैं और अहंकार के वशीभूत होकर कुकर्म-परायण तथा यथेच्छाचारी हो गये हैं। अत: मेरे आचार्य रूप में अवतीर्ण हुए बिना उनके लिये कोई उपाय नहीं है। तुम पत्नी के साथ घर लौट जाओ। शीघ्र ही तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।" ऐसा स्वप्न देखकर केशवाचार्य के उल्लास की सीमा न रही। उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को सब कह सुनाया और अगले दिन प्रात:काल दोनों अपने ग्राम की ओर लौट चले।

इस घटना के एक वर्ष बाद भाग्यशालिनी कान्तिमती ने सर्व सुलक्षण सम्पन्न एक पुत्र को जन्म दिया। कलि संवत् ४११८, शकाब्द ९३९ या ई. सन् १०१७ के आर्द्रा नक्षत्र में चैत्र मास के द्वादश दिवस, शुक्ला पंचमी तिथि को, बृहस्पतिवार के दिन, कर्कट लग्न तथा पिंगला वर्ष में, हारित गोत्रिय, यजु:शाखाध्यायी भगवान श्री रामानुजाचार्य बालसूर्य के समान अज्ञान अन्धकार को अपसारित करते हुए सर्व लोगों के समक्ष उदित हुए। उनके जन्म से दुर्बुद्धि का नाश होकर सद्बुद्धि का विकास हुआ था, अत: पण्डितों ने 'धीर्लब्धा' कहकर उनके जन्मकाल का निर्णय किया था। 'अंकस्य वामा गति' – अर्थात् अंकों को उल्टी दिशा से गिना जायेगा। उक्त वाक्य में ध, ल तथा ध ये तीन प्रधान अक्षर हैं। क से, ट से तथा य से प्रारम्भ होनेवाली अक्षरमाला १ से ९ तक की संख्या का द्योतक है। ट से शुरू करने पर ध नवीं संख्या है और य से आरम्भ करें, तो ल तृतीय संख्या का वाचक है। अत: ध, ल, ध ये अक्षर ९३९ शकाब्द को सूचित करते हैं।

उसी समय छोटी बहन महादेवी को भी एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। सूतिकागृह से बाहर आने के कुछ दिन बाद दीदी कान्तिमती के पुत्र को देखने की इच्छा से वे अपने नवजात पुत्र के साथ श्री पेरम्बुदुर आईं। दोनों बहनें एक-दूसरे के पुत्र का मुखावलोकन कर अतीव आनन्दित हुईं। इसी बीच लोगों के मुख से समाचार पाकर श्रीरंगनाथ क्षेत्र से वृद्ध श्री शैलपूर्ण भी दोनों बहनों से मिलने वहाँ आ पहुँचे। काफी काल बाद भाई से मिलकर कान्तिमती तथा महादेवी दोनों ही बड़ी हर्षित हुईं। सर्वसुलक्षण-युक्त भानजों को देखकर वृद्ध संन्यासी भी बड़े प्रसन्न हुए। कान्तिमती के पुत्र के विविध दैवी लक्षण देखकर उन्हें तत्काल नम्मा आलवार द्वारा कथित श्री पेरम्बुदुर के आदिशेषावतार की बात का स्मरण हो आया। बृहत् पद्मपुराण के ३२वें अध्याय, नारदपुराण, स्कन्दपुराण के २३वें अध्याय और श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में कलियुग के अनन्त देवों की कथा वर्णित है। इस विषय में उन्हें कोई सन्देह नहीं रहा कि यह शिशु ही वह लक्ष्मण-अवतार है। तदनुसार उन्होंने उसका नाम रामानुज रखा और महादेवी के पुत्र को गोविन्द की आख्या प्रदान की। महादेवी को बाद में एक पुत्र और हुआ, जिसे छोटे गोविन्द का नाम मिला।

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने लिखा है – **"सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ।"**[२] चैत्र मास के अश्लेषा नक्षत्र में रवि के कर्कट राशि में चले जाने पर लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न का जन्म हुआ था। श्री रामानुजाचार्य का जन्ममास व राशि भी दोनों सुमित्रा-पुत्रों के समान ही थी।

दोनों शिशुओं के चार माह के हो जाने पर दोनों माताएँ उन्हें गोद में लेकर बाहर निकलीं और उन्हें आदित्य का दर्शन कराया। बाद में यथासमय उनके अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूड़ाकरण, विद्यारम्भ तथा उपनयन-कर्म सम्पन्न हुए। बाल्यकाल से ही रामानुज ने अपनी असाधारण धीशक्ति का परिचय दिया था। चाहे जैसा भी दुरूह पाठ क्यों न हो, शिक्षक के मुख से एक बार सुनकर ही वे अनायास उसका मर्म समझ जाते, इस कारण वे सभी शिक्षकों के अतिशय प्रिय थे।

उनकी धी-शक्ति केवल बहिर्मुखी ही नहीं, बल्कि कुतुबनुमा की सूई के समान वह सदा उत्तर-दक्षिण के रूप में धर्म-अर्थ दोनों को ही समान रूप से प्रदर्शित किया करती थी। धर्म का अनुशीलन तथा धार्मिक लोगों का सान्निध्य उन्हें बड़ा प्रिय था। अवसर पाते ही वे साधुसंग में विलम्ब नहीं करते थे।

उन्हीं दिनों श्री कांचीपूर्ण नाम के एक परम भक्त कांची नगरी के प्रधान रत्न के रूप में विख्यात थे। ये सज्जन प्रतिदिन देवपूजा के लिये कांची से पुनामलै नामक ग्राम जाया करते थे। श्री पेरम्बुदुर उन्हीं दो स्थानों के बीच स्थित था। अत: वे रामानुज के घर के पास से होकर प्रतिदिन आवागमन करते थे। जाति के शूद्र होने पर भी उनका प्रगाढ़ ईश्वरानुराग देखकर ब्राह्मणगण भी उन्हें श्रद्धा एवं भक्ति की दृष्टि से देखते

२. वाल्मीकि रामायण, १/१८/१४

थे । एक दिन सायंकाल विद्यालय से लौटते समय रामानुज पथ में सहसा इन भक्तप्रवर से मिले और उनकी दिव्य मुखकान्ति देखकर सहज ही उनकी ओर बड़े आकृष्ट हो गये । उन्होंने अति विनयपूर्वक उनसे उस रात अपने घर ही भिक्षा पाने का अनुरोध किया । श्री कांचीपूर्ण भी बालक की दिव्यकान्ति तथा भगवल्लक्षण देखकर आमंत्रण को अस्वीकार नहीं कर सके । परमभक्त को अतिथि के रूप में पाकर रामानुज के आनन्द की सीमा न रही; उन्हें सुचारु रूप से भोजन कराने के बाद वे उनके पाँव दबाने को उद्यत हुए । परन्तु अतिथि ने मना करते हुए कहा, "मैं नीच हूँ, शूद्र हूँ और आप ब्राह्मण हैं, परम वैष्णव हैं । कहाँ तो मुझे ही आपकी चरणसेवा करनी चाहिये और उसकी जगह पर आप ही दास की सेवा करना चाह रहे हैं ।" इस पर रामानुज दुखी होकर बोले, "समझ गया, मेरा भाग्य ठीक नहीं है; इसीलिये आपके समान महापुरुष का सेवाधिकार नहीं पा सका । महाशय, क्या यज्ञोपवीत धारण करने मात्र से ही कोई ब्राह्मण हो जाता है? जो हरिभक्ति-परायण है, वही सच्चा ब्राह्मण है । देखिए, तिरुप्पान आलवार चाण्डाल होकर भी ब्राह्मणों के पूज्य हैं ।"

बालक की ऐसी भक्ति देखकर श्री कांचीपूर्ण उन्हें मनुष्य नहीं मान सके । विविध प्रकार की सच्चर्चा के बाद रात में रामानुज के घर सुखपूर्वक विश्राम करके अगले दिन प्रात:काल वे अपने घर लौट गये । उसी दिन से दोनों चिरकाल के लिए एक-दूसरे के प्रेम में आबद्ध हो गये ।

हम पहले संकेत कर आये हैं कि पूर्व के आचार्यों ने क्यों रामानुज को लक्ष्मण का अवतार कहा था और पुराणों के द्वारा प्रमाणित भी किया था । सौमित्र के साथ केशवनन्दन के स्वभाव की तुलना करने पर भी हमें उनमें काफी सादृश्य दीख पड़ता है । लक्ष्मण की कर्तव्य-परायणता, इष्टनिष्ठा, रामभक्ति, जितेन्द्रियता एवं धर्मानुराग धरणी तल पर अतुलनीय है । एकमात्र श्रीरामचन्द्र ही उनके हृदय-राज्य के अधीश्वर थे । रामरस के अतिरिक्त किसी अन्य रस में उन्हें आस्था ही न थी, अत: वे पार्थिव प्रलोभनों से दूर रहें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसके भूरि भूरि प्रमाण हमें – **वाल्मीकिगिरिसम्भूता राम-सागरगामिनी**[३] – रामायणी गंगा में अवगाहन करते ही प्राप्त होता है । जब मायामय स्वर्णमृग ने रमणीकुल-गौरव जनकनन्दिनी को मोहित करके, सर्व-कल्याण गुण समन्वित भगवान श्रीराम को भी भ्रमित कर दिया था, उस समय श्री लक्ष्मण ने अपने हृदय के एकमात्र अभीष्टदेव को सावधान करते हुए कहा था –

तमेवैनं अहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ।।
चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना वने ।
अनेन निहता राम राजानः कामरूपिणा ।।
अस्य मायाविदो मायामृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत् पुरुषव्याघ्र गन्धर्वपुरसन्निभम् ।।
मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ।।[४]

– हे पुरुषव्याघ्र! मुझे तो लगता है कि मारीच नामक राक्षस ही मृग के रूप में आया है । अपनी इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले इस पापी ने कपट वेश धारणकर वन में शिकार के लिये आये कितने ही हर्षोत्फल्ल राजाओं का वध कर दिया है । यह जो गन्धर्वनगरी के समान प्रकाशमान मायामृग सामने दृष्टिगोचर हो रहा है, उसी मायावी की माया है । हे राघव, पृथ्वी पर ऐसा विचित्र रत्नमय मृग कहीं भी दिखाई नहीं देता, अत: यह नि:सन्देह माया ही है ।

सीता सहित राम की सेवा करना ही सुमित्रानन्दन के जीवन का एकमात्र उद्देश्य था । रावणवध के उपरान्त देवताओं के साथ स्वर्ग से आकर पिता दशरथ उन्हें आशीर्वाद देते तथा प्रशंसा करते हुए कहा था –

अवाप्तं धर्माचरणं यशश्च विपुलं त्वया ।
एवं शुश्रूषताव्यग्रं वैदेह्या सह सीतया ।।[५]

– **हे वत्स! तुमने वैदेही सीता के साथ शान्तभाव से इन रामचन्द्र की सेवा करते हुए सम्पूर्ण धर्म तथा महान् यश प्राप्त किया है ।**

श्री रामानुज के जीवन का भी एकमात्र उद्देश्य श्री नारायण-सेवा ही थी । जब तमस् प्रकृति के समाज के नेताओं ने, अहंकार में उन्मत्त होकर, रावण द्वारा सीता के हरण के समान ही मानव हृदय से भगवद्भक्ति का अपहरण कर लिया था, तब श्री रामानुज ने वास्तविक लक्ष्मण के समान भक्ति-सीता के उद्धार हेतु आजीवन पाखण्डियों के साथ युद्ध करते हुए, अन्तत: सफलता प्राप्त की थी । उन्होंने नारायण के अंक में श्री को बैठाकर श्रीहीन भारत में पुन: समृद्धि का आनयन किया था । श्री के साथ नारायण का नित्य सम्बन्ध जोड़कर उन्होंने महर्षि वाल्मीकि के ही वाक्य को प्रमाणित किया है । आदि कवि ने बन्दी के मुख से गवाया है – **श्रीश्च धर्मश्च काकुत्स्थ त्वयि नित्यं प्रतिष्ठितौ**[६] – हे सूर्यकुलनन्दन, ऐश्वर्य और धर्म आपमें नित्य प्रतिष्ठित हैं ।

श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक महात्मा ने अपनी असाधारण धीशक्ति तथा अकाट्य युक्तियों की सहायता से यही बात स्पष्ट रूप से समझाई है । जैसे लक्ष्मण धर्म के विग्रह स्वरूप थे, श्री रामानुज भी वैसे ही धर्मप्राण थे, यह उनकी जीवन-लीला का अनुसरण करने से अनायास ही समझा जा सकेगा । सौमित्र के समान ही वे भय तथा प्रलोभन के परे निवास करते थे ।

❖ (क्रमश:) ❖

३. वाल्मीकि रामायण, ध्यान श्लोक (स्मार्त सम्प्रदाय)
४. वही, ३/४३/५-८ ५. वही, ६/११९/३३
६. वही, ७/३७/९

जीना सीखो (७)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने युवकों को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

नायक पूजा

यदि सच्चे हृदय से किसी के प्रति तुम्हारा प्रेम व आदर-भाव है, तो तुम निश्चित रूप से उसके गुणों तथा आदर्शों की उपलब्धि कर सकोगे ।

एलेक्सिस कैरल कहते हैं, "उत्कृष्ट गुणों तथा सर्वोत्तम चरित्रवाले महापुरुषों की अर्चना – मनुष्य की एक जरूरत है । यह मानसिक विकास के लिए भी अनिवार्य है । प्रजातंत्रवाले देशों में युवावर्ग के लिए अनुकरणीय न केवल ऐसे जीवन्त मॉडल होते है, अपितु ऐसे लोग भी होते हैं, जो अतीत में जीकर उत्कृष्ट उदाहरण छोड़ गये । जो लोग हमारे बीच नहीं रहे, वे भी हमारे बीच विशेष रूप से रहते हैं । हम सदा ही उनके विचारों का स्मरण कर सकते हैं । सिने-जगत् के कृत्रिम आकर्षणवाले नर-नारियों के विषय में सोचने की अपेक्षा, क्या कोला, दान्ते, पाश्चर जैसे महापुरुषों के विचारों का चिन्तन उत्तम नहीं है? महान् विद्वानों, नायकों व सन्तों की जीवन-कथाओं में आत्मशक्ति के हेतु अनन्त भण्डार होता है । वे बताते हैं कि जीवन में हम किस ऊँचाई तक जा सकते हैं, मानव चेतना का लक्ष्य कितना उत्कृष्ट हो सकता है । राष्ट्रों के पतन काल में नेताओं की कोई अपनी विशेषता नहीं होती । जब कोई नेता पूजनीय नहीं रह जाता, तो जनता असहाय हो जाती है ।' अमेरिका में अफ्रीकी-अमेरिकन समाज के उत्थान हेतु अपनी रचनात्मक योजनाओं द्वारा संघर्ष करनेवाले अफ्रीकी-अमेरिकन नेता बुकर टी. वाशिंगटन ने इसी दृष्टि से कहा था, 'आयु-वृद्धि के साथ साथ यह बात मेरे मन में स्पष्ट होती जा रही है कि सभ्य लोगों के संग रहने से हमें जो ज्ञान तथा शिक्षा प्राप्त होती है, वह किसी भी पुस्तक या मशीन से नहीं प्राप्त हो सकती ।' हमारे देश के सन्त, महात्मा, अनुभवी तथा शिक्षाविद् – सभी एकमत से कहते हैं कि कुसंग से बचने में अपनी पूरी शक्ति लगा दो । चाहे जितनी भी कठिनाई हो, सत्संग को मत छोड़ो । उत्कृष्ट लोगों का आदर तथा उनसे आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन प्राप्त करने का प्रयास किये बिना कोई भी समुदाय ऊपर नहीं उठ सकता ।

कवि सर्वज्ञ ने एक शाश्वत सत्य कहा है, "सत्संग मधु के समान और कुसंग नाली में बहते गन्दे पानी के समान है ।'

ज्ञात रूप से प्रयासपूर्वक तथा अज्ञात रूप से संसार की नकल से लोग जो सीखते हैं – दोनों ही अनुभव-प्राप्ति के प्रभावी उपाय हैं । इस प्रसंग में ज्ञानियों के शब्द स्मरणीय हैं ।

तीन वर्ष की आयु में ज्ञान

एक माता ने एक शिक्षाशास्त्री से पूछा कि अपने बच्चे की शिक्षा वह कब आरम्भ करे । विशेषज्ञ द्वारा बच्चे की आयु पूछने पर वह बोली, "केवल तीन वर्ष"। – "तीन वर्ष? और तुमने अब तक उसकी शिक्षा आरम्भ नहीं की? घर लौटकर तत्काल शुरू करो । तीन वर्ष तुम पहले ही गँवा चुकी हो ।"

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि संसार में आते ही शिशु सीखने लगता है । हमारे बड़े-बूढ़े कहते हैं कि वह तो माँ के गर्भ से ही सीखने लगता है । अर्थात् उसमें भी माँ के सुख-दुख, रुचि तथा भावों की प्रतिक्रिया होती है और उसी के अनुरूप उसका चरित्र तथा व्यक्तित्व बनता है । माँ के प्रेम तथा यत्न से वंचित बालक के वयस्क व्यक्तित्व के विकास में कुछ मुख्य गुण छूट जाते हैं । अत: 'घर ही शिशु की पाठशाला है', 'बड़ों का आचरण बच्चों की नोटबुक है', 'जो तीन वर्ष की आयु में सीखा जाता है, वह सौ तक रहता है' – जैसी सूक्तियाँ बालक के मन को गढ़ने में माता-पिता के दायित्व तथा घरेलू वातावरण का महत्व प्रकट करती हैं ।

हम सोचते हैं कि बस पढ़ना-लिखना सीख जाना ही शिक्षा है । परन्तु एक बच्चे का अपनी मातृभाषा सीखना देखकर हमें सीखने की प्रक्रिया का कुछ ज्ञान हो सकता है । वह सब कुछ नकल करके सीखता है । वह माता-पिता, भाई-बहनों की बातें सुनता है, धीरे धीरे उन्हें दुहराता है और फिर भाषा बोलने लगता है । वह न केवल शब्दों की, वरन् माता-पिता के सभी व्यवहारों तथा कार्यों की भी नकल करता है । वह उनकी रुचियों, धारणाओं, शुभ-अशुभ भावों, धर्म-विषयक कट्टरता या संकीर्ण दृष्टिकोण को अपना लेता है । बालक का भविष्य गढ़ने में घर के बड़ों के महत्व से बहुतेरे लोग परिचित नहीं हैं।

बच्चों की उन्नति

आजकल अभिभावक बच्चों की शिक्षा पर धन व्यय करने से पीछे नहीं हटते । अपने बच्चों के लिए उज्जवल भविष्य की उनकी कल्पना स्वाभाविक ही है । परन्तु क्या वे इस पर भी ध्यान देते हैं कि पाठशाला में बच्चे कैसे विचार तथा भाव अपनाते हैं और कैसी आदतें डालते हैं? पढ़ना सीख लेनेवाले बच्चे जीवन-संग्राम में सहायता करनेवाले विचारों तथा भावों से पूर्ण साहित्य के स्थान पर, मानव-दुर्बलताओं को विस्तार से दिखानेवाली फिल्मों तथा पुस्तकों से प्रभावित होते हैं । हम

सहज ही समझ सकते हैं कि वे शायद ही कभी ऐसी पुस्तकें पढ़ते हैं, जिनमें वैज्ञानिक, साहसी, पराक्रमी, समाज-सेवी, देशभक्त तथा ईश्वर पर पूर्णत: निर्भरशील सन्तों के जीवन-वृत्तान्त, उपलब्धियाँ, विचार तथा सन्देश लिपिबद्ध हैं।

बड़े दु:ख की बात है कि हमारे बच्चों को उनके जीवन के सर्वोत्तम विकास-काल में वे तत्त्व नहीं मिलते, जिनसे चरित्र बनता है। यह शिक्षा-शास्त्रियों तथा माता-पिता की असहायता या अदूरदर्शिता दिखाता है। केवल वे लोग ही इस बात को समझेंगे, जिन्हें उत्तम चरित्र, उत्तम विचार तथा उत्तम संस्कृति के विकास में अच्छी आदतों की भूमिका का महत्व ज्ञात है।

आदतें शुरू में मकड़ी के जाले के सूक्ष्म तन्तुओं के समान दुर्बल होती हैं। परन्तु कालान्तर में वे लौह-शृंखला के समान शक्तिशाली बनकर हमें जकड़ लेती हैं। बचपन से ही उत्तम आदतों को अपनाना बहुत जरूरी है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण आदत कौन-सी है? – वह सावधानी, जिसके द्वारा हम अच्छी आदतों को ग्रहण तथा बुरी आदतों को त्याग सकें। अच्छाई में विश्वास तथा अच्छा बनने का संकल्प मात्र ही हमें अच्छा बनाने या समस्त दोषों से मुक्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। अपनी बुरी आदतों को नष्ट करना भी बहुत आवश्यक है। बीस या तीस वर्ष की आयु तक व्यक्ति बौद्धिक व व्यावसायिक विकास से सम्बन्धित आदतें ग्रहण करता है। कहते हैं कि स्वास्थ्य, वाणी, उच्चारण, मुद्रा, भावपूर्ण अभिव्यक्ति, चाल आदि सम्बन्धी आदतें बीस वर्ष की आयु से पूर्व बनती हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, "यदि युवक समझ लें कि शीघ्र ही वे आदतों की चलती-फिरती पोटलियाँ मात्र बन जाएँगे, तो वे अपने गठन-काल में ही अपने व्यवहार पर ज्यादा ध्यान देंगे। भला-बुरा जैसा भी हो, हम अपना भाग्य स्वयं बुनते हैं और उसे पुन: उधेड़ा नहीं जा सकता।" यह स्पष्ट है कि माता-पिता तथा बच्चों को पढ़ाई-लिखाई के अलावा सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के विकास पर भी ध्यान देना होगा।

वर्षों तक छात्रावास में कार्यरत एक वरिष्ठ शिक्षक ने अपना अनुभव बताते हुए कहा था, "हमारे छात्रावास में पाँच वर्ष रहकर अच्छी श्रेणी में उत्तीर्ण होने के बाद उच्च पदाधिकारी हो चुके अपने एक पुराने छात्र से मैंने पूछा कि इस स्कूल में तुमने ऐसा क्या सीखा, जो तुम्हें अन्यत्र नहीं मिलता? उसने कहा, "सर, पहले मैं तीन या चार दिनों में एक बार स्नान करता था, अब एक दिन भी बिना नहाए नहीं रह सकता।"

प्रतिदिन स्नान करने का लाभ जानने से ही स्नान करने की आदत नहीं पड़ जाती। कुछ वर्षों तक प्रतिदिन नियमित रूप से स्नान से ही ऐसी आदत बनती है। बड़े लोग यदि बच्चों में यह आदत डाल दें, तो वह दृढ़ हो जाती है।

छात्रावास में कार्य करते समय मुझे विभिन्न समाज के छात्रों की प्रवृत्तियों, गुण तथा रुचियों को देखने का अवसर मिला। एक बार मैं नये छात्रों का दाँत साफ करना देखकर चौंक उठा था। दाँतों से रगड़ खाकर उनके ब्रशों से ऐसी ध्वनि निकल रही थी, मानो कोई रेत से पत्थर घिस रहा हो। कुछ छात्र इतना दबाकर ब्रश करते कि उनके मसूड़ों से रक्त निकलने लगता। मैंने दाँतों के एक नमूने से उन्हें दिखाया कि भोजन के टुकड़े दाँतों में कहाँ फँस जाते हैं और उन्हें ब्रश से कैसे निकाला जाय। मैंने उन्हें मसूड़ों की क्षति किये बिना ब्रश करना सिखाया। तीन दिन मैंने उन्हें दाँत साफ करते समय निरीक्षण किया। अनेक बच्चों ने वैसी ही आदत पकड़ ली।

'दाँत साफ रखो' – केवल इस उपदेश से ही बच्चे में दाँतों को साफ करने की आदत नहीं पड़ेगी।

अपने उपदेश को प्रभावी बनाने के लिए दाँतों को साफ करने की रीति समझाना आवश्यक है और उन्हें कभी स्नेहपूर्वक, तो कभी भय दिखाकर दाँतों को साफ करने का सही ढंग सिखाते हुए यह आदत डालनी चाहिए।

एक व्यावसायिक कॉलेज के छात्र ने अपना अनुभव बताते हुए कहा था, "खर्च में बचत करने के लिए मैंने कहा कि यदि हम अपने बर्तन स्वयं ही साफ करें, तो नौकरों का वेतन बचेगा, परन्तु इसे अस्वीकार किया गया और मेरी हँसी उड़ायी गयी।" नौकरों के प्रबन्ध के विषय में यह सलाह उसने छात्रों की समिति को दी थी।

हमारे देश में अधिकांश शिक्षित लोग किसी प्रकार के शारीरिक-कार्य को हेय दृष्टि से देखते हैं।

गर्मियों की छुट्टियाँ अपने घर बिताने के बाद छात्रावास में लौटकर एक छात्र ने अपने बड़ों को ईमानदारी के साथ सूचित किया कि अबकी बार वह घर में शौचालय का प्रयोग के पूर्व तथा बाद उसमें पानी डालना नहीं भूला। उसने स्वच्छता के मूल सिद्धान्त को प्रयोग में लाने का कार्य किया था, जिससे उत्तम चरित्र के बनाने का उपयुक्त वातावरण बनता है।

निजी व सार्वजनिक स्वच्छता, आज्ञापालन, समय की पाबन्दी, नियमितता, कार्यक्रमों में सहयोग की भावना से सम्मिलित होना, बड़ों का आदर करना, सहानुभूति, संयमित आचरण, अतिथि-सत्कार, अच्छाइयों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा – जीवन में इन सद्गुणों का विकास अनुभवी तथा अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न लोगों के मार्गदर्शन से ही सम्भव है। जो शिक्षा व्यक्ति और साथ-ही-साथ समाज के कल्याण में उपयोगी गुण नहीं दे सकती; वह अधूरी तो है ही, खतरनाक भी है।

असम्भव कुछ भी नहीं

लगभग पचास वर्ष पूर्व एक भारतीय ने जापान से लौटकर एक अँग्रेजी मासिक में एक लेख प्रकाशित कराया, "जापान कैसे एक महान् राष्ट्र बना?" यहाँ मैं उनके अनेक अनुभवों में

से दो-एक की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा । एक घटना दर्शाती है कि आधी शताब्दी पूर्व किस प्रकार एक समाज ने सामाजिक अनुशासन, शान्ति तथा आपसी सहयोग को कार्य रूप में परिणत किया –

वे लिखते हैं, "एक जापानी गाँव में मैं दो दिन रहा । वहाँ एक गरम पानी का सोता है, जहाँ लगभग ५०० जापानी पर्यटक, १५० बच्चों सहित आये थे । बिना देखे कोई विश्वास नहीं कर सकता था कि यहाँ इतने लोग थे । सभी इतने शान्त तथा अपने में व्यस्त थे, क्योंकि वे शान्तिपूर्वक कार्य करने के आदी थे । वहाँ एक सभागार में एक हजार श्रोता भी शान्त और मौन बैठे मिल जाते हैं ।"

लेखक ने अपने अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि व्यवहार में सम्मान, कार्य में उत्साह और एकाग्रता, निष्ठा, जीवन में सरलता आदि गुण केवल व्यक्ति के ही नहीं, समूह के भी हो सकते हैं । उन्होंने जापानियों की कृतज्ञता भाव के अनेक उदाहरण दिए हैं ।

गाँव में पहली बार एक तरह के शकरकन्द की खेती की शुरुआत करनेवाले जापानी नागरिक के सम्मान में लोगों ने एक स्मृति-स्तम्भ बनाया । फिर एक उत्तम वृक्ष लगानेवाले, एक सहकारी समिति की स्थापना में लोगों की सहायता करनेवाले, रूस तथा चीन के साथ युद्ध में मारे गये सैनिकों और कुश्ती में जीतनेवाले एक युवक के सम्मान में – इस प्रकार अनेक स्मृति-चिह्न लगाए गए हैं । ये बड़े सादे हैं, परन्तु वे समाज-कल्याण में योगदान देनेवालों के प्रति कृतज्ञता-भाव के ठोस प्रतीक हैं । ऐसा आदर्श युवा लोगों को श्रेष्ठता का सम्मान करने, सहायता करनेवाले के प्रति आभारी होने और गुणीजनों का आदर करने को प्रेरित करता है ।"

कुछ वर्ष पूर्व कन्नड़ में एक पुस्तक छपी थी – "एक्सपो - ७०" । इसका प्रकाशक है - कर्नाटक सहकारी प्रकाशन, बंगलौर । इसमें एक युवा टोली के सदस्यों की यात्रा के अनुभवों पर आधारित २० निबन्ध हैं । प्रत्येक निबन्ध में जापानी जीवन की उपलब्धियों तथा कृतित्वों का मर्मस्पर्शी वर्णन है । हमारे देश में प्रत्येक युवा को इसे पढ़ना चाहिए । एक विशेष घटना का वर्णन निम्नलिखित है –

"टोक्यो विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ३७ लाख पुस्तकें हैं । अनेक वर्षो से अब तक एक भी पुस्तक यहाँ खोई या चुराई नहीं गई । जब हमने पूछा कि पुस्तक को क्षति पहुँचाने पर क्या कोई जुर्माना है, तो उसने कहा – 'नहीं मालूम' और नियमावली देखने चला गया । वहाँ कभी ऐसी परिस्थिति ही नहीं उत्पन्न हुई थी, तो उसे वह नियम कैसे याद रहता?"

एक कर्तव्य-परायण समाज अपने युवा-वर्ग में आचार-व्यवहार के कितने उच्च मापदण्ड निर्धारित करता है! बचपन से ही उचित प्रशिक्षण देकर बच्चों को उत्तम नागरिकों में परिणत किया जा सकता है ।

एक मित्र हाल ही में अमेरिका का भ्रमण करके लौटा था । उसने बताया, "डिस्नेलैण्ड अमेरिका का चमत्कारी स्थल है, जहाँ प्रतिदिन ४० से ५० हजार तक दर्शक आते हैं । छुट्टियों में तो एक लाख तक लोग आ जाते हैं, परन्तु व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि कहीं जरा भी भीड़ या धक्का-मुक्की नहीं होती । जब दर्शकों की पंक्ति दो किलोमीटर लम्बी थी, तब भी हमें लगा कि हमारी बारी बहुत जल्दी आ गई है ।"

एक अच्छी आदत डालना

एक अच्छी आदत डालने और उसे अपने शारीरिक तथा मानसिक संरचना में सम्मिलित करने के लिए सर्वप्रथम एक दृढ़ संकल्प से आरम्भ करना चाहिए ।

अस्थिर तथा ढुलमुल भाव एक ऐसी मन:स्थिति के द्योतक हैं, जिसमें अनुशासन का नितान्त अभाव है । असंयमित मन की शक्तियाँ अनेक दिशाओं में बिखरकर बरबाद हो जाती हैं । अस्थिर मन का व्यक्ति कोई भी उत्तम उपलब्धि नहीं कर सकता । छोटे-बड़े सभी कार्य एकाग्रता तथा व्यवस्थित रूप से किये जाने पर ही मनुष्य में निपुणता और सहज भाव से सब कुछ करने की क्षमता आती है ।

एक कुशल साइकिल चलानेवाले को देखो । साइकिल चलाते हुए ही वह मित्रों से बातें कर सकता है तथा अपने चारों ओर की सुरम्य दृश्यावली का आनन्द भी ले सकता है और वह बिना किसी भय, उलझन या चिन्ता के अन्य वाहनों तथा पैदल चलनेवालों को बचाते हुए निकल जाता है । रुकने की आवश्यकता होने पर ब्रेक मानो स्वत: ही लग जाते हैं । आदत डाल लेने के कारण उसे इसके लिए उतनी शक्ति खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि उसे अभ्यास न होने पर लगानी पड़ती । यदि कोई आदत अपनी दिनचर्या में दृढ़मूल हो गयी हो, तो उसके साथ ही सहज भाव से एक दूसरी रचनात्मक आदत डाली जा सकती है; यथा स्नान करते समय गणित का कोई सूत्र, कोई पद्यांश या श्लोक याद किया जा सकता है । एक ओर स्नान चलता रहता है और साथ ही ज्ञान या किसी क्षमता की उपलब्धि भी होती रहती है ।

किसी उपयोगी क्षमता को प्राप्त करने हेतु सतत अभ्यास आरम्भ करने के प्रत्येक अवसर का उपयोग करने के प्रति हमें सचेत रहना होगा । हमें सावधानीपूर्वक स्थान तथा समय की ऐसी परिस्थितियाँ बनानी होगी, जो प्रभावी रूप से हमें लापरवाही या अनिश्चय के गड्ढे में गिरने के प्रलोभन से रोक सकें । संक्षेप में, तुम्हें अपने व्यक्तिगत गुणों में विकास के संकल्प या निश्चय की रक्षा के प्रत्येक अवसर का उपयोग करना होगा । केवल तभी संकल्प को तोड़नेवाले प्रलोभनों से बच सकोगे ।

तुमने जो अभ्यास आरम्भ किये हैं, वे जब तक आदत के रूप में तुम्हारे मन तथा मस्तिष्क का हिस्सा न बन जाय, तब तक उन्हें एक दिन के लिए भी न छोड़ना। यदि एक दिन के लिए भी अभ्यास को छोड़ दिया जाय, तो अगले दिन उसे टालने के लिए तुम्हारा मन कोई नया बहाना ढूँढ़ लेगा।

श्री प्रकाश पादुकोणे बैडमिण्टन के एक प्रसिद्ध खिलाड़ी हुए हैं। उनके अद्भुत दुस्साहस, खेल में उत्कृष्टता लाने के लिए निरन्तर अभ्यास और उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धियों की कथा से प्रेरित होकर अनेक युवकों ने नगर के विभिन्न भागों में बैडमिण्टन-क्लब बनाए। उन्होंने नियमित अभ्यास करने का संकल्प लिया। वे लोग बड़े उत्साहपूर्वक प्रतिदिन क्लब जाने लगे, पर ७-८ दिन बाद ही वे लोग किसी-न-किसी बहाने एक एक कर क्लब से अनुपस्थित होने लगे। महीने भर में ही उन युवकों के उत्साह के साथ ही सारे क्लब भी लुप्त हो गये। प्रकाश पादुकोणे ने १७ वर्ष अभ्यास किया था, पर उसके छद्म अनुयायी १७ दिन भी लगातार अभ्यास नहीं कर सके।

हमें सफलता के लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए केवल इच्छा या क्षणिक उत्साह ही यथेष्ट नहीं है। नियमित अभ्यास के कष्ट से बचने के लिए मन एक-न-एक बहाना ढूँढ़ ही लेता। दीर्घ काल तक लगन तथा धैर्यपूर्वक किया गया अभ्यास ही हमारी इच्छा को नियमों के अनुकूल ढाल सकता है।

आत्मविश्लेषण का अभ्यास

अनुभवी लोग, हमारे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए आत्म-विश्लेषण तथा अतीत के सिंहावलोकन पर बल देते हैं और स्वयं हमें ही अपनी भविष्य का निर्माता कहते हैं। वन में चलता हुआ सिंह बीच बीच में पीछे मुड़कर देखता है। इसी को सिंहावलोकन कहते है। हमें भी अपने पूरे दिन के कार्यों का सिंहावलोकन करना चाहिए। सन्तों द्वारा रचित भजनों में भी नियमित अभ्यास को महत्व दिया गया है। सिंहावलोकन की क्रिया मानो 'किसी भी उत्तम कार्य के नियमित अभ्यास के लाभों का प्रतिदिन हिसाब रखने' के समान है। दास कवि कहते हैं, 'मन का विस्तार से निरीक्षण करो', 'दिन भर के भले-बुरे कर्मों का पूरा हिसाब रखो।'

हर दिन के अन्त में हमें इस प्रकार सोचना होगा, "इस वर्ष के पिछले कुछ दिन मैंने कैसे बिताये? सुअवसर मिलने पर मैंने उनका कैसा उपयोग किया? मुझसे कहाँ भूल हुई? मौकों का लाभ मैं क्यों नहीं उठा सका? मुझसे क्या और क्यों भूल हुई? मुझसे कौन-सी गल्तियाँ हुईं? किस कारण ये भूलें हुईं? मैं अपने कल के समय का कैसे सदुपयोग करूँगा? क्या आज के अपने कार्य मैंने केवल मजबूरी-वश किये या मैंने स्वयं ही अग्रसर होकर उत्साहपूर्वक अपने कर्तव्य का पालन किया? क्या इसे और भी उत्तम रूप से सम्पन्न किया जा सकता था? मित्रों, परिचितों तथा पड़ोसियों के साथ मैंने कितना सहयोग किया?"

हमें स्वयं से ऐसे प्रश्न पूछने चाहिए और अनासक्त भाव से अतीत का निरीक्षण करके उसमें समयानुसार उचित परिवर्तन करना चाहिए। जैसे दर्पण में स्वयं को देखकर अपने सौन्दर्य में निखार लाया जाता है, वैसे ही जीवन में निखार लाने के लिए हममें आत्म-विश्लेषण की भी आदत डालनी चाहिए। इससे हमें अपने उन दोषों को त्यागने में सहायता मिलेगी, जो हमारे तथा दूसरों के लिए भी अवांछनीय हैं। अपने को उन्नत करनेवाले गुणों का विकास करना सम्भव है। बेंजामिन फ्रेंकलिन ने अपने अनुभवों के आधार पर यही घोषणा की थी।

आदतों के विकास के आरम्भ में ही अति महत्वाकांक्षी नहीं होना चाहिए। हवा में उड़ने की चेष्टा करने के पूर्व भूमि पर ठीक से चलना सीख लेना आवश्यक है। पहली ही चेष्टा में यदि कोई बड़ा भारी बोझ उठा ले, तो फिर अगले प्रयास में और भी अधिक वजन उठाते समय उसे निराश होना पड़ेगा। वस्तुत: प्रथम प्रयास की सफलता ही बाद के प्रयासों के लिए टॉनिक का कार्य करती है। अत: आरम्भ में सरल, सहज तथा अल्पावधि के अभ्यासों को ही अपनाना उचित होगा।

एक मनोवैज्ञानिक का कहना है, "उस व्यक्ति से बढ़कर दूसरा कोई भी दुखी न होगा, जिसने जीवन में कोई विशेष आदत नहीं डाली है; जिसका सुबह उठना, रात को सोना, भोजन, धूम्रपान, पानी पीना आदि सभी कार्य अनिश्चित तथा अनियमित हैं और जो दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक कार्य के भले-बुरे परिणाम के विषय में सोचता रहता है, उसका आधा समय यही सोचने या पश्चात्ताप करने में बीत जाता है कि 'क्या करना चाहिए था' या 'कितना मूल्यवान समय नष्ट हो गया'!

"जब वह सचेत या जाग्रत अवस्था में हो, तब तो उसे उचित कर्म के विषय में बिल्कुल भी सन्देह नहीं होना चाहिए। उसे तो दैनन्दिन जीवन के कर्म अपने अस्तित्व के अंग के समान स्वचालित यंत्रवत् सहज भाव से किये जाना चाहिए। यदि किसी ने दैनन्दिन कर्मों को सहज आदत नहीं बना लिया है, तो उसे तत्काल इसे अपने स्वभाव का अंग बना लेने की दिशा में ध्यान देना चाहिए।" ❖ (क्रमश:) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (७)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आवीर्भूत ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नहीं मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश में जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । सुकरात तथा सिकन्दर के युग में भी अनेक भारतवासी उन देशों की यात्रा किया करते थे, इस कारण प्राचीन यूनान की कथाओं पर भारतीय प्रभाव होना कोई असम्भव बात नहीं है । इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

घोड़ा और गधा

एक आदमी के पास एक घोड़ा और एक गधा था । कहीं जाते समय वह सारा बोझ गधे की पीठ पर लाद देता और घोड़े को मूल्यवान समझकर उसकी पीठ पर कोई भार नहीं लादता । एक दिन सारा भार लेकर चलते चलते गधे को पीड़ा होने लगी । भार की अधिकता और कमर की पीड़ा से त्रस्त होकर गधे ने अत्यन्त कातर होकर घोड़े से अनुरोध किया, "देखो भाई, मैं इतना भार ढो नहीं पा रहा हूँ । यदि तुम दया करके थोड़ा-सा हिस्सा ले लो, तो मुझे काफी राहत मिलेगी, नहीं तो मैं मर जाऊँगा ।" घोड़ा बोला, "तुम बोझ ढो पाओ या न ढो पाओ, इससे मेरा क्या! मुझे तुम बेकार तंग मत करो । मैं कभी तुम्हारे भार में हिस्सा नहीं बँटाऊँगा ।"

गधा ने और कुछ नहीं कहा । वह उसी प्रकार चलते हुए थोड़ी देर बाद लड़खड़ाकर गिर पड़ा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये । तब उस व्यक्ति ने सारा बोझ और साथ ही उस मरे हुए गधे को भी उस घोड़े की ही पीठ पर लाद दिया । अब घोड़ा उस बृहत् भार का वहन करते हुए पश्चात्ताप के स्वर में मन-ही-मन बड़बड़ाने लगा, "मुझे अपने दुष्ट स्वभाव के अनुरूप ही सजा मिली है । उस समय यदि मैं इस भार का थोड़ा-सा हिस्सा स्वीकार कर लेता, तो फिर मुझे यह सारा भार और साथ ही मरे हुए गधे को भी नहीं ढोना पड़ता ।"

दीन-दुखियों की सहायता करने में अपनी ही भलाई है ।

चालाकी का फल

एक व्यक्ति नमक का व्यापार किया करता था । जहाँ कहीं उसे नमक सस्ता बिकने की सूचना मिलती, वह वहीं पहुँच जाता और नमक खरीदकर अपने बैल की पीठ पर लादकर ले आता । इस बार उसने ज्यादा सस्ता देखकर पिछली बारों की अपेक्षा अधिक नमक खरीद लिया था, इसलिए उसके भार से बैल को चलने में बड़ी कठिनाई हो रही थी ।

रास्ते के किनारे एक नाला था, जिसमें काफी पानी रहता था । नाले के ऊपर एक पुलिया बनी हुई थी । उस पुलिया से होकर ही सभी लोग आना-जाना किया करते थे । परेशान बैल जान-बूझकर नाले में गिर पड़ा । नाले में गिर जाने से बहुत-सा नमक गल गया और उसका बोझ भी कम हो गया । तब वह बड़े आराम से रास्ता चलने लगा ।

एक अन्य समय उस व्यक्ति ने इसी प्रकार ज्यादा नमक खरीदकर बैल पर लादा । उस दिन भी बैल फिर से जान-बूझकर नाले में गिर पड़ा । इस प्रकार दो दिन काफी नुकसान उठाने के बाद व्यापारी समझ गया कि बैल जान-बूझकर ऐसा कर रहा है; अत: उसे इस चालाकी के लिए सजा देनी होगी ।

ऐसा सोचने के बाद इस बार वह बैल को साथ लेकर कपास खरीदने गया । कपास खरीदने के बाद वह उसे बैल की पीठ पर लादकर लौट पड़ा । बैल पहले के समान ही वजन घटाने के निमित्त नाले में गिर पड़ा ।

पिछली दोनों बार जब जब बैल नाले में गिरा था, तब तब उस व्यापारी ने अपना नमक बचाने के लिए बैल को जल्दी-से-जल्दी निकालने का प्रयास किया था, परन्तु इस बार उसने कोई जल्दबाजी नहीं दिखाई । थोड़ी देर बाद कपास के भीग जाने पर वह बहुत भारी हो गया । अब उसने वह भीगा हुआ पूरा कपास फिर से बैल की पीठ पर लादा और घर की ओर चल पड़ा । बैल को अपने करनी का फल मिल गया ।

सुन्दर वही, जो उपयोगी हो

एक हिरण एक गड्ढे में पानी पीने गया । पीते समय पानी पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था । उस प्रतिबिम्ब को देखकर हिरण ने मन-ही-मन कहा, "मेरे सिंग जितने सबल हैं, उतने ही सुन्दर हैं, परन्तु मेरे पाँव बड़े कुरूप और दुर्बल कमजोर हैं ।" हिरण इसी प्रकार अपने शरीर के गुण-दोषों पर विचार कर रहा था कि तभी कुछ शिकारी आ गए । हिरण उन्हें देखकर अपने प्राणों के भय से इतनी तीव्र गति से भागने लगा कि उसका पीछा करनेवाले शिकारी काफी पीछे रह गये । परन्तु जंगल में प्रवेश करते ही उसके सिंग लताओं में ऐसे फँस गये कि वह आगे भागने में असमर्थ हो गया । इसके फलस्वरूप शिकारियों ने आकर उसे मार डाला ।

मरते समय हिरण कहने लगा, "मैंने जिस अंग के प्रति कुरूप और निकम्मा कहकर खेद व्यक्त किया था, उसी ने मुझे शत्रु के हाथ से बचाया; परन्तु जिस अंग को मैंने सबल और सुन्दर मानकर सन्तोष व्यक्त किया था, वही मेरी मृत्यु का कारण बना ।

किसी का खेल - किसी का संकट

कुछ बच्चे एक तालाब के किनारे खेल रहे थे । खेलते खेलते उन लोगों ने देखा कि तालाब में कुछ मेढक तैर रहे

हैं । वे मेढकों पर पत्थर फेंकने लगे । पत्थरों के आघात से कई मेढको की मृत्यु हो गई । तब एक मेढक ने बच्चों से कहा, "अरे बच्चो, तुम लोग यह निष्ठुर खेल बन्द करो । पत्थर फेंकना तुम लोगों के लिए खेल है, परन्तु हम लोगों के लिए तो यह प्राणघाती सिद्ध हो रहा है ।"

बाघ और बकरा

एक बाघ ने पहाड़ के ऊपर घूमते हुए देखा कि एक बकरा उस पहाड़ के बड़े ऊँचे स्थान पर चर रहा है । इतनी ऊँचाई पर जाकर उसका शिकार कर पाना बाघ के लिए कठिन था, अत: बकरे को नीचे उतारने के लिए उसने बड़ी चतुराई के साथ कहा, "भाई बकरे, तुम इतनी ऊँची जगह पर क्यों घूम रहे हो? यदि संयोगवश गिर पड़े, तो मर जाओगे । देखो, नीचे की घास कितनी मीठी और कोमल है, अत: नीचे उतर आओ ।" बकरे ने उत्तर दिया, "भाई बाघ, मुझे माफ करना, मैं नीचे नहीं उतर सकूँगा । मैं समझ गया हूँ कि तुम मेरे भोजन के लिए नहीं, बल्कि अपने भोजन के लिए मुझे नीचे उतरने की सलाह दे रहे हो ।"

साझे का शिकार और सिंह का बँटवारा

सिंह तथा कुछ अन्य जन्तु मिलकर शिकार पर गये थे । उन लोगों ने विभिन्न वनों में भ्रमण करते हुए आखिरकार एक हिरण को मार डाला । बँटवारे के समय सिंह ने कहा, "तुम लोगों को परेशान होने की जरूरत नहीं है, मैं उचित रूप से बाँट देता हूँ ।" इतना कहने के बाद उसने शिकार को तीन बराबर भागों में बाँट दिया । इसके बाद वह बोला, "देखो, पहला भाग मैं लूँगा, क्योंकि मैं सभी पशुओं का राजा हूँ । और शिकार करने में मैंने जो परिश्रम किया है, उसके मेहनताने के रूप में दूसरा भाग भी मैं लूँगा । अब तीसरे भाग के विषय में मेरा कहना है कि जिसमें ताकत हो, वह उसे उठा ले ।" सिंह का तात्पर्य समझकर अन्य पशु यह कहकर बड़बड़ाते हुए चले गये, "बलवान लोग यदि स्वार्थी तथा विचारहीन हो जायँ, तो दुर्बलों के साथ ऐसा ही न्याय हुआ करता है ।"

खगोल-शास्त्री का ऊँचा ज्ञान

एक खगोल-शास्त्री हर रात ग्रह-नक्षत्रों की गति का निरीक्षण किया करते थे । एक दिन वे आकाश की ओर दृष्टि लगाये एकाग्रचित्त से नक्षत्रों का अध्ययन करते हुए मार्ग से चले जा रहे थे । उनके सामने एक कुँआ पड़ा । उसे न देख पाकर वे उसी में गिर पड़े ।

कुँए में गिरने के बाद वे बड़े ही कातर स्वर में चिल्लाते हुए लोगों को पुकारने लगे, "अरे भाई, कोई हो तो जल्दी से आकर मुझे कुँए से बाहर निकालो और मेरी प्राणरक्षा करो ।"

एक व्यक्ति निकट से ही होकर गुजर रहा था । यह कातर वाणी सुनकर वह कुँए के निकट जा पहुँचा । खगोल-शास्त्री को बाहर निकालने के बाद उसने पूछकर सारी घटना जान ली । इसके बाद वह बोला, "कितने आश्चर्य की बात है! जिस रास्ते पर तुम चलते हो, उसमें कहाँ क्या है, यह तो तुम्हें मालूम नहीं और आकाश में कहाँ क्या है, यह जानने के लिए तुम परेशान रहते हो!"

छोटी-मोटी चीजों का ज्ञान होना भी अतीव आवश्यक है ।

सिंह पर आक्रमण करनेवाला गधा

एक गधा और एक मुर्गा – दोनों एक ही स्थान पर निवास करते थे । एक दिन एक सिंह उधर से होकर गुजरा । सिंह ने गधे को हृष्ट-पुष्ट देखकर उसे मारकर पेट भरने का निश्चय किया । गधा भी सिंह का अभिप्राय समझकर बड़ा डर गया ।

कहते हैं कि सिंह मुर्गे की आवाज को बड़ा अपशकुन मानता है और उसे सुनकर नाराजगीपूर्वक तत्काल उस स्थान से चला जाता है । संयोगवश उसी समय मुर्गे ने बाँग दी और सिंह उल्टे पाँव लौट गया ।

सिंह के लौटने का कारण न समझकर गधे ने सोचा कि वह मेरे ही डर से भाग रहा है । ऐसा सोचकर वह सिंह पर आक्रमण करने के लिए उसके पीछे दौड़ा । सिंह ने पलटकर अपने पंजे के एक ही वार से उसका काम तमाम कर दिया ।

घोड़ा और गधा

एक गधा काफी बोझ उठाए बड़े कष्टपूर्वक चला जा रहा था । उसी समय एक युद्ध का घोड़ा बड़े वेग से सरपट दौड़ते हुए उधर से होकर गजुरा । गधे के निकट पहुँचकर घोड़ा बोला, "ओ गधे, रास्ता छोड़ दे, नहीं तो मेरे पाँव की चोट से तेरे प्राण निकल जाएँगे ।" गधे ने भयभीत होकर जल्दी से रास्ता छोड़ दिया और अपने दुर्भाग्य तथा घोड़े के सौभाग्य पर मन-ही-मन बड़ा खेद करने लगा ।

कुछ दिनों बाद वह घोड़ा युद्ध में गया । वहाँ वह ऐसा घायल हो गया कि वह पूरी तौर से निकम्मा हो गया । इस कारण अब युद्ध के लायक नहीं रह गया था । यह देखकर घोड़े के मालिक ने उसे खेती के काम में लगा दिया ।

एक दिन दोपहर की कड़ी धूप में घोड़ा हल खींच रहा था । उसी समय वह गधा वहाँ आ पहुँचा और घोड़े का क्लेश देखकर मन-ही-मन सोचने लगा, "मैं कितना मूर्ख हूँ, जो तब उसका सौभाग्य देखकर खेद तथा ईर्ष्या से जल रहा था । अब तो उसकी दुर्दशा देखकर आँखों मे आँसू आ जाते हैं । और यह भी कैसा मूर्ख है, जो अपने अच्छे दिनों में इतना अहंकारी हो गया था कि उसने अकारण ही मेरा अपमान किया । उस समय उसे नहीं मालूम था कि कोई भी सौभाग्य स्थायी नहीं होता । इस समय तो इसकी मुझसे भी बुरी अवस्था है ।"

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

'अविज्ञातं विजानताम्' इति अवधृतम् । यदि ब्रह्म अत्यन्तम् एव अविज्ञातम्, लौकिकानां ब्रह्मविदां च अविशेषः प्राप्तः । 'अविज्ञातं विजानताम्' इति च परस्पर-विरुद्धम् । कथं तु तद्-ब्रह्म सम्यग् वि दितं भवति इति एवम् अर्थम् आह –

ऐसा निश्चय हो चुका है कि 'ज्ञानियों के लिए ब्रह्म अज्ञात है'। यदि ब्रह्म पूर्ण रूप से ही अज्ञात (अज्ञेय) हो, तब तो सामान्य लोगों तथा ब्रह्मवेत्ता में कोई भेद ही नहीं रह जायेगा। और फिर 'जाननेवालों के लिए यह अज्ञात है' – इस वाक्य में अन्तर्विरोध (भी) है। अतः वह ब्रह्म किस प्रकार सम्यक् रूप से ज्ञात होगा, यह बताने हेतु (अगला मंत्र) कहा गया है –

> **प्रतिबोधविदितं मतम्**
> **अमृतत्वं हि विन्दते ।**
> **आत्मना विन्दते वीर्यं**
> **विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।।४।। (१२)**

अन्वयार्थ – **प्रतिबोध-विदितम्** प्रत्येक वृत्तिज्ञान के द्वारा ब्रह्म ज्ञात हो रहा है – **मतम्** यही यथार्थ ज्ञान है **हि** क्योंकि (इसे जाननेवाला) **अमृतत्वम्** मुक्ति को **विन्दते** प्राप्त करता है। (क्योंकि) **आत्मना** आत्मा (अपने स्वरूप) के द्वारा (साधक) **वीर्यम्** (मुक्ति की) सामर्थ्य **विन्दते** प्राप्त करता है (और) **विद्यया** ज्ञान के द्वारा **अमृतम्** मुक्ति **विन्दते** प्राप्त करता है।

भावार्थ – प्रत्येक बोधवृत्ति के द्वारा (उसके पीछे स्थित) ब्रह्म विदित हो रहा है – यही यथार्थ ज्ञान है और इसे जाननेवाला अमृतत्व (मुक्ति) प्राप्त करता है। आत्मा के द्वारा वह बल को और ज्ञान के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है।

भाष्य – प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रतिविदितम् । बोध शब्देन बौद्धाः प्रत्यया उच्यन्ते । सर्वे प्रत्यया विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान् प्रति बुध्यते । सर्व-प्रत्यय-दर्शी चित्-शक्ति-स्वरूपमात्रः प्रत्ययैः एव प्रत्ययेषु अविशिष्ट-तया लक्ष्यते; न अन्यत् द्वारम् अन्तरात्मनो विज्ञानाय ।

'प्रतिबोधविदितम् अर्थात् प्रत्येक बोधवृत्ति के द्वारा (उसके पीछे स्थित) ब्रह्म विदित हो रहा है'। बुद्धि-विषयक वृत्तियों को 'बोध' कहा जाता है। जो आत्मा इन समस्त बुद्धि-वृत्तियों को प्रकाशित करती है या अपना विषय बनाती है, वह इन समस्त वृत्तियों के द्वारा जानी जाती है। वह (आत्मा) बोध-वृत्तियों के द्वारा ही – बोध-वृत्तियों में सामान्य (अभिन्न) रूप से व्याप्त चैतन्य-शक्ति-स्वरूप समस्त बोध-वृत्तियों के द्रष्टा के रूप में जानने में आता है; अन्तरात्मा को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अतः प्रत्यय-प्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत्-सम्यग् दर्शनम् इत्यर्थः सर्वप्रत्यय-दर्शित्वे च उपजनन-अपायवर्जित-दृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्ध-स्वरूपत्वम् आत्मत्वं निर्विशेषता-एकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत् ; लक्षणभेद-अभावाद् व्योम्न इव घट-गिरि-गुहादिषु। 'विदित-अविदिताभ्याम् अन्यत् ब्रह्म' (केन. १/४) इति आगम-वाक्यार्थ एवं परिशुद्ध एव उपसंहृतो भवति । 'दृष्टेः द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेः मन्ता विज्ञातेः विज्ञाता' (बृ. उ. ३/४/२) इति हि श्रुत्यन्तरम् ।

अतः जब बोध-वृत्ति की अन्तरात्मा के रूप में ब्रह्म का ज्ञान होता है, तभी 'तन्मतम्' अर्थात् वह ठीक ठीक जाना जाता है। जिस प्रकार घट तथा गिरिगुहा में व्याप्त आकाश के लक्षणों में कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार (इस ब्रह्म को) सर्व बोध-वृत्तियों के द्रष्टा के रूप में स्वीकार कर लेने पर ही सर्वभूतों में उसकी जन्म-मृत्युरहित, साक्षिरूपता, नित्यता, विशुद्धस्वरूपता, आत्मता, निर्गुणता तथा एकता की सिद्धि होती है। ब्रह्म 'विदित और अविदित से पृथक् है' – इस श्रुतिवाक्य को ही यहाँ इस प्रकार परिशुद्ध करके उपसंहार किया गया है। एक दूसरी श्रुति में भी है – 'वह दृष्ट (दर्शन) का देखनेवाला, श्रुत (श्रवण) का सुननेवाला, संकल्पित को सोचनेवाला और ज्ञात (ज्ञान) का जाननेवाला है।'

न्याय मत का खण्डन

यदा पुनः बोधक्रिया-कर्ता इति बोधक्रिया-लक्षणेन तत्कर्तारं विजानाति इति बोध-लक्षणेन विदितं प्रतिबोध-विदितम् इति व्याख्यायते, यथा यो वृक्षशाखाः चालयति स वायुः इति तद्वत् ; तदा बोधक्रिया-शक्तिमान-आत्मा द्रव्यम्, न बोधस्वरूप एव । बोधस्तु जायते विनश्यति च ।

यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया सविशेषः । यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः । तत्र एवं सति विक्रियात्मकः सावयवो-अनित्यो-अशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते ।

फिर जब 'प्रतिबोधविदितम्' की इस प्रकार व्याख्य की जाती है – 'आत्मा बोधक्रिया का कर्ता है और बोधक्रिया के द्वारा उसके कर्ता का उसी प्रकार बोध होता है जैसे कि जो वृक्ष की डाली को हिलाता है, वह वायु है; इस प्रकार बोध के द्वारा उसका ज्ञान होता है; तब तो आत्मा बोधस्वरूप में रहकर बोधक्रिया की शक्ति से युक्त एक द्रव्य या पदार्थ हो जाता है। परन्तु (इस मत के अनुसार) बोध (ज्ञान) उत्पन्न होता है और नष्ट होता है । जब बोध उत्पन्न होता है, तब वह ब्रह्म बोधक्रिया के द्वारा सगुण हो जाता है और जब बोध का नाश हो जाता है, तब वह बोधरहित निर्गुण द्रव्य मात्र रह जाता है । ऐसा होने पर ब्रह्म से विकारीपन, सावयवता, अनित्यता, अशुद्धता आदि दोषों का निराकरण सम्भव नहीं होगा ।

वैशेषिक मत का खण्डन

यद्यपि काणादानाम् आत्ममनः संयोगजो बोध आत्मनि समवैति; अत आत्मनि बोद्धृत्वम्, न तु विक्रियात्मक आत्मा; द्रव्यमात्रः तु भवति घट इव राग-समवायी; अस्मिन् पक्षे अपि अचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्म इति 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ. उ. ३/९/२८) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. उ. ५/३) इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेश-अभावात् नित्य-संयुक्तत्वात् च मनसः स्मृति-उत्पत्ति-नियम अनुपपत्तिः अपरिहार्या स्यात् । संसर्ग-धर्मित्वं च आत्मनः श्रुति-स्मृति-न्याय-विरुद्धं कल्पितं स्यात् । 'असङ्गो न हि सज्जते' (बृ. उ. ३/९/२६) 'असक्तं सर्वभृत्' (गीता १३/१४) इति हि श्रुतिस्मृती । न्यायश्च - गुणवद्-गुणवता संसृज्यते, न अतुल्यजातीयम् । अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्व-विलक्षणं केनचिद् अपि अतुल्य-जातीयेन संसृज्यते इति एतत् न्यायविरुद्धं भवेत् । तस्मात् नित्य-अलुप्तज्ञान-स्वरूप-ज्योतिः-आत्मा ब्रह्म इति अयम् अर्थः सर्वबोध-बोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, न अन्यथा । तस्मात् 'प्रतिबोध-विदितं मतम्' इति यथा-व्याख्यात एव अर्थो अस्माभिः ।

काणाद अर्थात् वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होनेवाला बोध (ज्ञान) आत्मा में निहित रहता है । (उनके मतानुसार) यह (आत्मा) एक द्रव्य (पदार्थ) है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं आता, घड़े में रंग जुड़ जाने के समान उसमें ज्ञातृत्व उत्पन्न हो जाता है । इस मत के अनुसार भी ब्रह्म अचेतन द्रव्य मात्र हो जाता है, जिससे निम्नलिखित श्रुतियाँ बाधित हो जाती हैं – 'ब्रह्म विज्ञान तथा आनन्द स्वरूप है', 'ब्रह्म चैतन्यमय है' । आत्मा के निरवयव (अखण्ड, निष्कल) होने के कारण उसका कोई स्थान नहीं होता और चूँकि मन सर्वदा ही उसके सम्पर्क में रहता है, अतः (इससे) स्मृति की उत्पत्ति के सिद्धान्त की अयौक्तिकता को मिटाया नहीं जा सकता । (इसके अतिरिक्त) आत्मा का संयोगत्व (जुड़ने) का गुण श्रुति-स्मृति तथा न्याय के विरुद्ध कल्पना मात्र हो जायेगा । क्योंकि श्रुति-स्मृतियों में है – 'असंग है, जुड़ता नहीं'; 'असंग रहकर सबका पालन करने-वाला' । न्याय (तर्कशास्त्र) में भी लिखा है – गुणवाली वस्तु गुणवाली वस्तु के साथ ही जुड़ेगी, असमान जातिवाली वस्तु के साथ संयोग नही होता । अतः निर्गुण, विशेषणरहित, सबसे पृथक् वस्तु (ब्रह्म) किसी भिन्न जाति की वस्तु (मन) के साथ जुड़ जाय, तो यह न्यायशास्त्र के विरुद्ध होगा । (इसलिए) आत्मा के सर्व बोधों (वृत्तिज्ञानों) का ज्ञाता (साक्षी) होने पर ही – नित्य, अविनाशी (अक्षय), ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय आत्मा ही ब्रह्म है – यह अर्थ सिद्ध होता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं । अतः 'प्रतिबोधविदितं मतम्' की जैसी हमने व्याख्या की है, (श्रुति का) वही उचित तात्पर्य है ।

ब्रह्म की ज्ञान-उपाधि

यत्पुनः स्वसंवेद्यता 'प्रतिबोध-विदितम्' इति अस्य वाक्यस्य अर्थो वर्ण्यते, तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्धि-उपाधि-स्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्य आत्मना आत्मानं वेत्ति इति संव्यवहारः - 'आत्मनि एव आत्मानं पश्यति' (बृ. उ. ४/४/२३) 'स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम' (गीता १०/१५) इति । न तु निरुपाधिकस्य आत्मनः एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति । संवेदन-स्वरूपत्वात् संवेदन-अन्तर-अपेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाश-अन्तर-अपेक्षाया न सम्भवः तद्वत् ।

अब जो लोग 'प्रतिबोधविदितं मतम्' वाक्य का अर्थ स्वसंवेद्य (अपने आप में ज्ञातव्य) कहते हैं, वहाँ उसे उपाधियुक्त रूप में लेने से बुद्धि उपाधिवाली आत्मा का उसके स्वरूप के साथ भेद की कल्पना करके ही 'आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है' – ऐसे वाक्य का प्रयोग करते हैं । जैसा कि (श्रुति-स्मृति में) कहा गया है – 'स्वयं में ही आत्मा को देखता है', 'हे पुरुषोत्तम, तुम स्वयं ही अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा को जानते हो'। परन्तु निरुपाधिक आत्मा में एकत्व होने से उसमें स्व-संवेद्यता या पर-संवेद्यता सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त जैसे एक प्रकाश को (देखने के लिए) किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार (आत्मा के) चैतन्य-स्वरूप होने के कारण (उसे जानने हेतु) किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं हो सकती ।

बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्; 'न हि विज्ञातुः विज्ञातेः विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' (बृ. उ. ४/३/३०) 'नित्यं विभुं सर्वगतम्' (मु. उ. १/१/६) 'स वा एष महान् अज आत्मा

अजरो अमरो अमृतो अभयः' (बृ. उ. ४/४/२५) इत्याद्यया: श्रुतयो बाध्येरन् ।

यदि बौद्ध मतानुसार स्व-संवेद्यदता को मान लिया जाय, तब तो ज्ञान क्षणभंगुर तथा अनात्मा हो जाता है; और इससे निम्नलिखित श्रुतियाँ बाधित हो जाती हैं – 'अविनाशी होने के कारण ज्ञाता के ज्ञान का लोप नहीं होता', 'वह नित्य है, व्यापक है और सर्वव्यापी भी है', 'वह अजन्मा आत्मा महान्, अजर, अमर, अमृत और अभय है' ।

अन्तिम निष्कर्ष

यत्पुनः प्रतिबोध-शब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधः यथा सुप्तस्य इत्यर्थं परिकल्पयन्ति, सकृद्-विज्ञानं प्रतिबोध इति अपरे; निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद् वा असकृद् वा प्रतिबोध एव हि सः ।

फिर कुछ लोग 'प्रतिबोध' शब्द से निमित्तरहित ज्ञान का अर्थ लेते हैं, जैसा कि सुषुप्ति के समय होता है । और कुछ अन्य लोग एक बार होनेवाले ज्ञान को प्रतिबोध कहते हैं । हमारा निष्कर्ष यह है कि चाहे वह निमित्तरहित हो या निमित्तवाला हो, चाहे एक बार हो या अनेक बार हो, वह प्रतिबोध ही है ।

अमृतत्वम् अमरणभावं स्वात्मनि अवस्थानं मोक्षं हि यस्माद् विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात् प्रतिबोध-विदितात्मकात्, तस्मात् प्रतिबोध-विदितम् एव मतम् इति अभिप्रायः । बोधस्य हि प्रत्यगात्म-विषयत्वं च मतम् अमृतत्वे हेतुः । न हि आत्मनो अनात्मत्वम् अमृतत्वं भवति । आत्मत्वाद् आत्मनो अमृतत्वं निर्निमित्तम् एव, एवं मर्त्यत्वम् आत्मनः यद्-अविद्यया अनात्मत्व-प्रतिपत्तिः ।

तात्पर्य यह है कि (चूँकि) साधक जिस प्रतिबोध अर्थात् प्रत्येक बोधवृत्ति (के साक्षी रूप) में व्यक्त होनेवाले आत्मा के बोध से ही अमरत्व अर्थात् अपने स्वरूप-स्थिति मोक्ष को प्राप्त करता है । अत: प्रत्येक बोधवृत्ति के द्वारा होनेवाला ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है । और इस बोध का अन्तरात्मा-विषयक होना ही अमृतत्व का कारण है । आत्मा का अनात्मा के रूप में बोध होने से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती । अपना स्वरूप होने के कारण आत्मा की अमरता में कोई कारण नहीं होता और अविद्या (अज्ञान) के कारण जब आत्मा की अनात्मा के रूप में अनुभूति होती है, तो वही आत्मा की मरणधर्मिता है ।

ज्ञान के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति

कथं पुनः यथोक्तया आत्मविद्यया अमृतत्वं विन्दते इति अतः आह – आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम् । धन-सहाय-मन्त्र-औषधि-तपो-योगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोति अभिभवितुम् अनित्य-वस्तु-कृतत्वात्; आत्मविद्या-कृतं तु वीर्यम् आत्मना एव विन्दते, न अन्येन इति अतः अनन्य-साधनत्वाद् आत्मविद्या-वीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोति अभिभवितुम् । यत एवम् आत्मविद्या-कृतं वीर्यम् आत्मना एव विन्दते, अतः विद्यया आत्मविषयया विन्दते अमृतम् अमृतत्वम् । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु. उ. ३/२/४) इति अथर्वणे । अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दते इति ।।४।।

पूर्वोक्त आत्मविद्या के द्वारा किस प्रकार अमृतत्व की प्राप्ति होती है, यह बताते हुए आगे कहते हैं – 'आत्मना' अर्थात् अपने स्वरूप (के ज्ञान) के द्वारा (साधक) 'वीर्यम्' अर्थात् बल या सामर्थ्य प्राप्त करता है । धन, जन, मंत्र, औषधि, तप तथा योग द्वारा प्राप्त बल या सामर्थ्य अनित्य वस्तुओं द्वारा साधित होने के कारण मृत्यु को पराजित नहीं कर सकते; परन्तु आत्मविद्या से प्राप्त होनेवाला बल किसी अन्य वस्तु से नहीं, बल्कि अपने स्वरूप (के ज्ञान) से ही होता है । अत: किसी अन्य (बाह्य) साधन की अपेक्षा न रखनेवाला आत्मविद्या का बल ही मृत्यु को पराभूत करने में सक्षम है । चूँकि इस प्रकार आत्मविद्या से प्राप्त होनेवाला बल अपने स्वरूप (ज्ञान) से ही प्राप्त होता है, अत: आत्म-विषयक ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है । अथर्व श्रुति में भी है – 'दुर्बल व्यक्ति के लिए इस आत्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं है' । अत: 'इसे जाननेवाला अमृतत्व (मुक्ति) की प्राप्ति करता है' – इस प्रकार बताया हुआ कारण ठीक ही है ।।४।। (१२)

कष्टा खलु सुर-नर-तिर्यक्-प्रेतादिषु संसार-दुःख-बहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्म-जरा-मरण-रोगादि संप्राप्तिः अज्ञानात् । अतः –

सांसारिक दु:खों से परिपूर्ण सुर, नर, पशु, प्रेत आदि प्राणियों के बीच अज्ञान के कारण जन्म, वार्धक्य, मृत्यु, रोग आदि की प्राप्ति निश्चय ही परम कष्टदायी है; इस कारण –

> **इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति**
> **न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।**
> **भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः**
> **प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।।५।। (१३)**

अन्वयार्थ – इह इसी जीवन में **चेत्** यदि **अवेदीत** जान लिया **अथ** तब तो **सत्यम्** ठीक **अस्ति है, इह** इस (जन्म) में **चेत्** यदि **न अवेदीत्** नहीं जाना, (तो) **महती** बहुत बड़ी **विनष्टिः** हानि है । (अत:) **धीराः** विवेकी लोग **भूतेषु भूतेषु** समस्त प्राणियों में (ब्रह्म को) **विचित्य** जान करके **अस्मात्** इस **लोकात्** संसार से **प्रेत्य** छूटकर **अमृताः** मुक्त **भवन्ति** हो जाते हैं ।

भावार्थ – यदि इसी जीवन में (आत्मा/ब्रह्म को) जान लिया, तब तो ठीक है और यदि नहीं जाना, तो बहुत बड़ी

हानि है। विवेकी गण प्रत्येक प्राणी में (ब्रह्म को) अनुभव करके, इस (मैं-मेरा रूप) लोक से जाकर (देहान्त के बाद) अमर (मुक्त) हो जाते हैं।

भाष्य – इह एव चेत् मनुष्यः अधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीद् आत्मानं यथोक्त-लक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदा अस्ति सत्यं मनुष्य-जन्मनि अस्मिन् अविनाशो अर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते। न चेद् इह अवेदीत् इति, न चेत् इह जीवन् चेत् अधिकृतः अवेदीत् न विदितवान्, तदा महती दीर्घा अनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्म-जरा-मरणादि-प्रबन्ध-अविच्छेद-लक्षणा संसारगतिः।

यदि किसी मनुष्य ने, अधिकारी तथा समर्थ होकर, इहलोक में ही पूर्वोक्त (श्रोत्र-का-श्रोत्र) लक्षणवाले आत्मा को पूर्वोक्त प्रकार से (प्रत्येक बोधवृत्ति के द्वारा उसके पीछे स्थित ब्रह्म विदित हो रहा है) जान लिया है, तब तो सत्य अर्थात् इस मनुष्य-जीवन में अविनाशी सार्थकता या सत्ता या परमार्थता या सत्य रहता है। और यदि अधिकारी होकर भी जीवित रहते ही (उसे) नहीं जाना, तब उसके लिए दीर्घ अर्थात् अनन्त काल के लिए विनाश अर्थात् जन्म, वार्धक्य, मृत्यु आदि के निरन्तर प्रवाह रूप संसार-गति (आवागमन) की प्राप्ति होती है।

तस्माद् एवं गुणदोषौ विजानन्तः ब्राह्मणाः भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च एकम् आत्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय साक्षात्कृत्य धीराः धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य मम-अहं-भाव-लक्षणात् अविद्यारूपात् अस्मात् लोकात् उपरम्य सर्वात्मैकत्व-भावम् अद्वैतम् आपन्नाः सन्तः अमृता भवन्ति ब्रह्म एव भवन्ति इत्यर्थः 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्म एव भवति।' (मु. उ. ३/२/९) इति श्रुतेः ।।५।। (१३)

(अतः) ज्ञानी – सभी स्थावर तथा जंगम प्राणियों में एक-मात्र आत्मतत्त्व रूपी ब्रह्म को जानकर अर्थात् साक्षात् करके, 'अहं-मम' भाववाले अविद्या रूप इस लोक से प्रेत्य अर्थात् निवृत्त होकर, सबके भीतर एक ही आत्मा विराजमान है – इस अद्वैत की अनुभूति करके ब्रह्म ही हो जाते हैं – ऐसा तात्पर्य है। श्रुति में भी कहा है – 'जो कोई उस परम ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है' ।।५।। (१३) ❖ (क्रमशः) ❖

मृत्यु से अमृतत्व की ओर

भैरवदत्त उपाध्याय

सत्य, ज्ञान एवं अमरता प्राप्त करना मानव-जीवन का परम ध्येय है। इसे यों भी कह सकते हैं कि जीवन के कुरुक्षेत्र में मनुष्य को असत्य, अज्ञान तथा मृत्यु के तीन मोर्चों पर एक साथ जूझना पड़ता है। यह बात अलग है कि इस संघर्ष की शैली एवं भाषा न्यूनाधिक हो सकती है, पर प्रत्येक व्यक्ति को जूझना अवश्य पड़ता है और हर जूझनेवाला अपने जूझने का उद्देश्य यही मानता है। कौरव तथा पाण्डवों में से प्रत्येक का दावा यही था कि उनका संघर्ष सत्य के लिए है। पर सत्य क्या है? क्या खण्ड सत्य समग्र सत्य का अथवा एकांश सत्य अनेकांश सत्य का स्थान ले सकता है और क्या खण्ड अथवा सत्य को ही समग्र सत्य मानकर संघर्ष की सार्थकता स्वीकार की जा सकती है? ऐसी अनेक जिज्ञासाओं के उत्तर बिना ज्ञान के देना सम्भव नहीं है। विवेक के नेत्रों का उन्मीलन होने पर ही सत्य को सूर्य का दर्शन होता है।

विवेक का जागरण, ज्ञान की अनुभूति तभी होती है, जब जीवन की अमरता में विश्वास हो। मृत्यु के भय से अभिभूत हुआ व्यक्ति सत्य तथा ज्ञान की साधना नहीं कर सकता। न केवल नचिकेता अपितु सम्पूर्ण मानव-जाति को यम का अतिथि बनकर **विद्ययाऽमृतम् अश्नुते** का पाठ सीखना तथा मृत्यु का उपहास करते हुए अमृतत्व की आराधना करनी पड़ती है।

असत्य जीवन का कपटाचार एवं मायाचार है। मिथ्याचार को ही सत्याचार मान लेना अज्ञान है। अज्ञान ज्ञान को ढँक लेता है। जिस प्रकार दीपक पर ढक्कन रख देने से अन्धकार छा जाता है, कुछ भी दीख नहीं पड़ता और जब ढक्कन हटा दिया जाता है तो उससे प्रकाश मिलने लगता है, आसपास की सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होने लगता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान के ढक्कन को ज्ञान के दीपक से हटाने पर ही सत्य के स्वरूप का दर्शन होता है।

असत्य का रूप इतना मोहक होता है कि उस पर व्यक्ति आसक्त हो जाता है। जिससे वह असत्य को सत्य मानकर अज्ञान के जाल में फँस जाता है। इसे काटे बिना सत्य तक पहुँचना सम्भव नहीं होता और अमृतत्व की प्राप्ति भी दुर्लभ है। अमरता सृजन और मृत्यु विध्वंस का प्रतीक है। हमारे भीतर ये दो शक्तियाँ समाहित हैं। देवासुर-संग्राम निरन्तर जारी है। विध्वंस अज्ञान और असत्य है। सत्य का ज्ञान न होने पर अज्ञान के अन्धकार में सत्य के पथ से भटक जाने पर विध्वंस की आसुरी प्रवृत्ति पनपती है। विध्वंस कबी आह्लादकारी एव सुख-परिणामी नहीं होता। सृजन के माध्यम से ही इस पर विजय पा सकते हैं। सृजन सत्य है, इसीलिए अमृत है। सृजनकर्ता ही इस अमृत का पान करता है, अतएव अमर है। ऋषियों की वाणी में जनचेतना को यह उद्‌बोधन सर्वथा सटीक है। उसकी प्रार्थना है – 'हे प्रभो, तू हमें असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरता की ओर ले चल' – **असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।** ❑

पुरुषार्थ की महत्ता

स्वामी सत्यरूपानन्द

आप जीवन में कुछ होना चाहते हैं? कौन ऐसा है जो जीवन में कुछ होना नहीं चाहता? सभी लोग जीवन में कुछ होना चाहते हैं। 'कुछ विशेष' बनकर जीवन जीना चाहते हैं। अतः आप में भी 'कुछ विशेष' होने की इच्छा स्वाभाविक है।

जब आप कुछ होना चाहते हैं तब प्रतीक्षा किस बात की कर रहे हैं? अनुकूल समय की? उचित अवसर की? सुविधाओं की? सहायता देने वाले लोगों की?

याद रहे यदि ऐसा है तो जीवन प्रतीक्षाओं में ही बीत जायेगा। कुछ होने की इच्छा आकाश-कुसुम के समान कोरी कल्पना ही रह जायेगी। जीवन स्वयं एक लम्बी प्रतीक्षा बनकर रह जायेगा और हम कुछ न हो पायेंगे।

जीवन में हम जो कुछ होना चाहते हैं उसका सबसे अनुकूल समय आज है, अभी है। हम विचार करके तो देखें कि भविष्य में हम जो होना चाहते हैं उसके लिये आज अभी इसी क्षण हम क्या कर सकते हैं?

विचार करने पर हम पायेंगे कि भविष्य में हम जो होना चाहते हैं उसके लिये वर्तमान के इस क्षण का सदुपयोग हम किसी न किसी प्रकार अवश्य कर सकते हैं। आज का समय ही उसके लिये अनुकूल समय है। जीवन में 'कुछ' हो सकने का उचित अवसर है वर्तमान का सदुपयोग कर लेना, उसका पूरा पूरा लाभ उठा लेना। वर्तमान से अच्छा उचित अवसर भला कब और कहाँ मिल सकता है?

अभी जहाँ और जिन परिस्थितियों में हम हैं वही हमारे लिये जीवन में कुछ हो जाने का उचित अवसर है।

आप सहायता देने वालों की प्रतीक्षा कर रहे हैं तो स्मरण रखिये संसार उसी की सहायता करता है जो कि स्वयं कमर कस कर अपनी सहायता आप करने को प्रस्तुत है। उसके पास जो भी साधन उपलब्ध हैं उसका वह पूरी तरह उपयोग कर रहा है, उससे पूरा पूरा लाभ ले रहा है। ऐसे कर्मठ व्यक्ति की सहायता करने को सभी प्रस्तुत रहते हैं।

सहायता प्राप्त करने के पूर्व स्वयं को सहायता प्राप्त करने का अधिकारी सिद्ध करना पड़ता है तभी सहायता मिलती है अन्यथा वह तो भिक्षा है जो दाता हमें दीन हीन समझ कर देता है। और हम सभी यह जानते हैं कि 'भिक्षा' के द्वारा मनुष्य संसार में 'कुछ विशेष' नहीं बन सकता।

जीवन में कुछ बनने का, संसार में कुछ विशेष होने का रहस्य है 'पुरुषार्थ'। पुरुषार्थ ही वह कुंजी है जो ज्ञान विज्ञान के रहस्य कोषों को मनुष्य के लिये खोज देता है। पुरुषार्थ पुरुष को प्रकृति का स्वामी बना देता है। प्रकृति की शक्तियाँ पुरुषार्थी की सेवा में हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। सफलता उसके हाथ चूमती है।

पुरुषार्थ ने ही तो राजकुमार सिद्धार्थ को भगवान बुद्ध बना दिया। वर्धमान को तीर्थंकर महावीर बना दिया। हमारे ही युग में मोहन दास करम चन्द गाँधी को महात्मा गाँधी बना दिया। अतः कमर कस कर पुरुषार्थ में जुट जाएँ और अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माता हो कर अपना जीवन सफल कर लें।